

पिछले दो दशकों के दौरान हमारे देश ने जबर्दस्त **आर्थिक तरक्की** की है। लेकिन इस कामयाबी का एक **अंधकारमय** पहलू भी है जो हमारी नजरों से ओझल या अनजान छूट गया है। मुल्क की आधी से ज्यादा **आबादी** या तो तरक्की की इस दौड़ में **पीछे छूट** गई है या इस **तरक्की की कीमत** चुका रही है। **पर्यावरण** को जो स्थायी **नुकसान** पहुंचा है सो अलग। **वैश्विक विकास** का मौजूदा ताना-बाना न तो पर्यावरणीय स्तर पर टिकाऊ है और न ही सामाजिक समानता के लिए अनुकूल है। ये हिंदुस्तान को और ज्यादा तीखे **टकरावों** व **कष्टों** की ओर धकेल रहा है। लेकिन दूसरी ओर हमारे सामने कई ऐसे **वैकल्पिक तौर-तरीके** और रास्ते भी हैं जिन पर चलते हुए हम धरती की सेहत को नुकसान पहुंचाए बिना एक ज्यादा **समतापरक** व **खुशहाल** भविष्य की तरफ बढ़ सकते हैं। यह रास्ता एक **मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र** का हिस्सा है।

भारत में वैश्वीकरण प्रभाव और विकल्प

विषय सूची

वैश्वीकरण के युग में अर्थव्यवस्था, समाज और पर्यावरण : कुछ तथ्य	1
आर्थिक वैश्वीकरण : पर्यावरण पर प्रभाव	5
विकल्पों की तलाश : मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र	12

अर्थव्यवस्था की दशा

- 2003-08 के दौरान हमारे देश ने अब तक की सबसे शानदार विकास दर दर्ज की है। इस दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर औसतन 8-9 प्रतिशत सालाना रही है। परंतु 2007-08 में पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं से शुरू हुई महामंदी का इस उछाल पर भी सीधा असर पड़ा है। 2008-12 के दौरान भारत की विकास (जीडीपी) दर 6.7-8.4 प्रतिशत के बीच झूलती रही है। 2012 के यूरो ज़ोन संकट के कारण तथा आंशिक रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था के भीतर मैन्यूफैक्चरिंग एवं खेती में आए ठहराव की वजह से विकास दर और भी नीचे चली गई है। 2011-12 की चौथी तिमाही में विकास दर 5.3 प्रतिशत रही जो तकरीबन नौ साल में सबसे कम विकास दर थी। 31 मार्च 2012 को खत्म हुई तिमाही में मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र की विकास दर 0.3 प्रतिशत पर पहुंच गई थी जो 2010-11 की इसी तिमाही में 7.3 प्रतिशत थी। कृषि उपज में भी कुछ ऐसा ही रुझान दिखाई दिया। इस तिमाही में कृषि उपज में केवल 1.7 प्रतिशत का इजाफा दर्ज किया गया जबकि 2010-11 की चौथी तिमाही में ये इजाफा 7.5 प्रतिशत था। संकटों में फंसी विश्व अर्थव्यवस्था के साथ गहरे तौर पर बंधे होने की वजह से आने वाले दौर की तस्वीर बेहद अनिश्चित दिखाई देने लगी है।¹
- 1991 से अब तक औद्योगिक उत्पादन तिगुना हो गया है जबकि बिजली उत्पादन दुगुने से भी ऊपर चला गया है। बुनियादी ढांचे का फैलाव भी प्रभावशाली रहा है। संचार साधनों तथा वायु, रेल एवं सड़क यातायात की गुणवत्ता में भारी विस्तार और सुधार आया है।²
- 2009 में हमारे यहां 2700 से ज्यादा बहुराष्ट्रीय कंपनियों काम कर रही थीं।³
- दिनोंदिन बहिर्मुखी होती जा रही अर्थव्यवस्था में देश के विदेशी कर्जों को भी उसके विदेशी मुद्रा भंडार के साथ मिलाकर देखना जरूरी है। 1991 में विदेशी कर्जा 83 अरब डॉलर था जो 2008 में 224 अरब डॉलर पहुंच गया था। यह कर्जा जीडीपी का लगभग 20 प्रतिशत था। पिछले कुछ सालों में यह कर्ज और तेजी से बढ़ा है। मार्च 2011 और मार्च 2012 के बीच ये 306 अरब डॉलर से बढ़कर 345 अरब डॉलर तक पहुंच चुका है। इसकी तुलना विदेशी मुद्रा भंडार से की जा सकती है जो 1991 में लगभग शून्य पर पहुंच गया था और 2012 में 287 अरब डॉलर था। पिछले कुछ समय में भारत से पूंजी के निर्गम की वजह से विदेशी मुद्रा भंडार में कुछ गिरावट आई है। जुलाई 2011 में ये 314 अरब डॉलर था जो साल भर बाद 287 अरब डॉलर रह गया था।⁴
- भारत का व्यापार घाटा (आयात और निर्यात का फासला) नब्बे के दशक की शुरुआत से ही तेजी से बढ़ने लगा था। सेवा व्यापार ने आंशिक रूप से इसकी भरपाई तो कर दी है लेकिन यह फासला देश के विदेशी मुद्रा भंडार में गिरावट का स्पष्ट संकेत है। 2004 में हमारा घाटा जीडीपी का 0.4 प्रतिशत था जो 2011-12 में बढ़ कर 3.6 प्रतिशत तक जा चुका था।⁵

- 2011-12 में भारत सरकार के कुल बजट व्यय का 30 प्रतिशत खर्च कर्जों का ब्याज चुकाने में जा रहा था। इस प्रकार, यह सरकार के खर्चों का सबसे बड़ा मद है। इसके मुकाबले रक्षा पर 8 प्रतिशत और स्वास्थ्य व शिक्षा पर कुल मिलाकर 2 प्रतिशत से भी कम खर्च किया जा रहा है।⁶
- 2007-08 से शुरू हुई वैश्विक मंदी के दौरान भारत सरकार को भी अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने पर दखल देना पड़ा ताकि सितंबर 2008 के बाद अंतर्राष्ट्रीय बाजारों के चरमराने का असर भारतीय अर्थव्यवस्था पर न पड़े। 2008-09 में सरकार को अर्थव्यवस्था में कुल 1200 अरब रुपये (27 अरब डॉलर) की पूंजी झॉकनी पड़ी जो जीडीपी के 2 प्रतिशत से ज्यादा बैठती है।⁷

समाज की दशा

राजा, रंक और दौलत वाले

- लंदन स्थित न्यू इकॉनॉमिक्स फाउंडेशन (एनईएफ) ने विश्व बैंक के आंकड़ों के आधार पर हिसाब लगा कर बताया है कि अगर 1990 से 2001 के बीच दुनिया की प्रति व्यक्ति आय में 100 डॉलर की वृद्धि हुई है तो उसमें से केवल 0.60 डॉलर वृद्धि ही अपनी असली मंजिल तक पहुंची है जिसने एक डॉलर प्रतिदिन से भी नीचे जीवनयापन करने वालों की गरीबी पर अंकुश लगाने में योगदान दिया है। इसका मतलब ये है कि अगर हमें गरीबों की आय में एक डॉलर प्रतिदिन का इजाफा करना है तो गैर-गरीबों को 165 डॉलर अतिरिक्त देने होंगे।⁸
- जब 1991 में आर्थिक सुधारों का सिलसिला शुरू हुआ था तब मानव विकास सूचकांक (जिसमें साक्षरता, जीवन प्रत्याशा/औसत उम्र तथा प्रति व्यक्ति आय शामिल हैं) पर भारत दुनिया के देशों की सूची में 123वें स्थान पर हुआ करता था। 2009 में हमारा देश 134वें स्थान पर जा पहुंचा है।⁹
- भारत सरकार द्वारा असंगठित क्षेत्र की समस्याओं पर विचार करने के लिए बनायी गई अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी के मुताबिक, 2007 में भारत की 77 प्रतिशत आबादी (यानी 83.6 करोड़ लोग) 20 रुपये प्रतिदिन से भी कम आय पर जीवनयापन कर रहे थे। इसका मतलब है कि हमारे पास इतनी भयानक विपन्नता में जीने वाली आबादी आजादी के समय की कुल भारतीय आबादी से लगभग ढाई गुना हो चुकी है।¹⁰



वैश्वीकरण से भीषण गरीबी पर कोई असर नहीं पड़ा है।

- गरीबी के अध्ययन के लिए बनाई गई तेंडुलकर कमेटी, जिसने 2009 में योजना आयोग को अपनी रिपोर्ट सौंपी थी, के मुताबिक 2004-05 में भारत में गरीबों का अनुपात ग्रामीण इलाकों में 41.8 प्रतिशत और शहरों में 25.7 प्रतिशत था। इस अध्ययन के लिए गरीबी की रेखा का पैमाना गांवों में 15 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति दिन और शहरों व कस्बों में लगभग 20 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति दिन तय किया गया था।¹¹
- आज हिंदुस्तान की प्रति व्यक्ति आय 150 रुपये प्रति दिन है। देश के 80 प्रतिशत लोगों की दैनिक आय इससे कम है।¹²
- दुनिया भर में अल्पपोषित लोगों की सबसे बड़ी आबादी हिंदुस्तान में बसती है। यह आबादी सारे उप-सहारा अफ्रीका के अल्पपोषित लोगों की कुल संख्या से भी ज्यादा है। एफएओ ने 2004-06 की अवधि के लिए यह आबादी 25.1 करोड़, यानी देश की कुल आबादी का एक चौथाई बताया थी। इसमें जनसंख्या वृद्धि और जीवन प्रत्याशा में इजाफे का सिर्फ आंशिक योगदान है। अभी भी हमारे पास पर्याप्त भोजन है, एफसीआई के गोदाम अनाज से पटे रहते हैं और इसके बावजूद 20 करोड़ से ज्यादा लोग रोज भूखे पेट सोते हैं और 5 करोड़ से ज्यादा ऐसे हैं जो भुखमरी की कगार पर सांस ले रहे हैं।¹³
- 2005-10 के बीच देश के विभिन्न राज्यों में गुजरात की विकास दर सबसे ज्यादा (दो अंकों वाली) रही है। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक, गुजरात में 1992-93 में तीन वर्ष से कम आयु वाले ऐसे बच्चों की संख्या 44 प्रतिशत थी जिनका विकास अवरुद्ध है। 2005-06 में भी यहां ऐसे बच्चों की संख्या 42 प्रतिशत थी (बाद के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं)। सामान्य से कम वजन वाले बच्चों का अनुपात भी सुधारों के इस दौर में लगभग पहले जैसा ही रहा है (47-48 प्रतिशत)।¹⁴
- भारत की 'विकास'परियोजनाओं के कारण विस्थापित हो चुके, या परियोजना प्रभावित लोगों की संख्या 1947 से अब तक लगभग 6 करोड़ रही है। योजना आयोग द्वारा लगभग 2.1 करोड़ विस्थापितों पर किए गए अध्ययनों से पता चला कि उनमें से 40 प्रतिशत से ज्यादा आदिवासी लोग रहे हैं जबकि भारत की कुल आबादी में आदिवासियों का हिस्सा केवल 8 प्रतिशत है।¹⁵
- 2008-09 में किए गए एनएसएस सर्वेक्षणों के मुताबिक, भारतीय शहरों में 49,000 झुग्गी-बस्तियां हैं। 2003 के एक संयुक्त राष्ट्र अध्ययन में बताया गया था कि भारत की आधी

से ज्यादा शहरी आबादी झुग्गी-बस्तियों (पुनर्वास बस्तियों सहित) में रहती है। पूरी दुनिया में ऐसे लोगों की संख्या एक तिहाई है।¹⁶

- भारतीय अर्थव्यवस्था के औपचारिक (संगठित) क्षेत्र में रोजगारों की संख्या 1991 से 2007 के बीच तकरीबन 2.7 करोड़ के आसपास ही थमी रही है। यह संख्या भारत की कुल श्रमशक्ति के 6 प्रतिशत से भी कम है।¹⁷
- 1991 में अनाजों और दालों की प्रति व्यक्ति दैनिक उपलब्धता 510 ग्राम थी जो 2007 में 443 ग्राम प्रति व्यक्ति तक गिर गई थी।¹⁸
- अप्रैल 2009 में भारत में मोबाइल फोन इस्तेमाल करने वालों की संख्या 40.3 करोड़ थी। इनमें से लगभग 46 प्रतिशत यानी 18.7 करोड़ लोग ऐसे थे जिनके पास किसी बैंक में खाता नहीं है। भारत के 6 लाख गांवों में से केवल 5.2 प्रतिशत गांव ऐसे हैं जहां किसी बैंक की कोई शाखा है। इसकी वजह से ही ज्यादातर किसान महाजनों और सूदखोरों के चंगुल में फंसे रहते हैं।¹⁹
- कर्जों के बोझ से तंग आकर 1997-2008 के बीच दो लाख किसान खुदकुशी कर चुके थे (सुधारों के शुरू होने के बाद इस संख्या में तेजी से इजाफा हुआ है)। इन 10 सालों के दौरान औसतन लगभग हर 30 मिनट में एक किसान आत्महत्या कर रहा था।²⁰
- 2009 के नीलसन सर्वेक्षण के मुताबिक भारत के 22 करोड़ परिवारों में से केवल 25 लाख परिवार ऐसे हैं जिनके पास कार और कंप्यूटर, दोनों साधन हैं। विदेशों में सैर-सपाटे के लिए जाने वाले परिवारों की संख्या केवल एक लाख है।²¹
- तकरीबन 60 प्रतिशत भारतीयों के पास अभी भी समुचित स्वच्छता सुविधाएं नहीं हैं। युनीसेफ के मुताबिक, बेहतर पेयजल स्रोत 88 प्रतिशत आबादी (1990 में 72 प्रतिशत) के लिए ही उपलब्ध है।²²
- एक हाई-नेट-वर्थ-इंडीविजुअल ऐसे करोड़पति व्यक्ति को माना जाता है जिसकी कुल निवेश योग्य संपदा (निजी घर, जमीन और/या संपत्ति के अलावा) कम से कम 4.5 करोड़ रुपये है। मेरिल लिंच के मुताबिक, भारत में 2010 में ऐसे लोगों की संख्या 1,26,700 थी। यों तो देश की कुल आबादी में इनका हिस्सा केवल 0.01 प्रतिशत ही बैठता है लेकिन इनकी संपदा का मूल्य भारत की जीडीपी के लगभग एक तिहाई के बराबर बैठता है।²³
- नैशनल इलेक्शन वॉच द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के मुताबिक, वर्तमान लोकसभा के 543 में से 300 सदस्य डॉलर मिलियनेयर्स (यानी 4.5 करोड़ से ज्यादा संपत्ति वाले) हैं। 2004 में हुए पिछले आम चुनावों में चुन कर आए सांसदों में उनकी संख्या इससे केवल आधी थी। 543 सांसदों की कुल संपत्ति 2,800 करोड़ रुपये के आसपास बैठती है और इस तरह औसतन हर सांसद एक डॉलर मिलियनेयर है। 64 केंद्रीय कैबिनेट मंत्रियों की संपत्ति 10 करोड़ डॉलर है।²⁴
- निजीकरण का शिकंजा प्राकृतिक संसाधनों को भी तेजी से अपनी चपेट में लेता जा रहा है। नदियों के लंबे-लंबे टुकड़े



कॉरपोरेट खरीदारों को बेचे जा चुके हैं। उदाहरण के लिए छत्तीसगढ़ की शिवनाथ, केलू और कुकरुट नदियों को देखा जा सकता है।²⁵

पर्यावरण की दशा

- 2008 की एक रिपोर्ट के मुताबिक, अमेरिका और चीन के बाद दुनिया में सबसे विशाल पर्यावरणीय पदचिन्ह (इकोलॉजिकल फुटप्रिंट) भारत का ही है। हमारे पास जितने प्राकृतिक संसाधन हैं, हमारे देश के लोग उससे दुगुनी मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग कर रहे हैं। ऊपर से, भारत में प्रकृति की मनुष्यों के भरण-पोषण की क्षमता पिछले चार दशकों के दौरान घट कर महज आधी रह गई है।²⁶
- देश के सबसे अमीर लोगों (यानी आबादी के सबसे अमीर 0.01 प्रतिशत तबके) के प्रति व्यक्ति पर्यावरणीय पदचिन्ह देश की सबसे गरीब 40 प्रतिशत आबादी के मुकाबले 330 गुना ज्यादा है। ये किसी औद्योगिक, संपन्न देश के औसत नागरिक के पर्यावरणीय पदचिन्ह से भी 12 गुना ज्यादा है। भारत के सबसे अमीर एक प्रतिशत लोगों के पर्यावरणीय पदचिन्ह अमीर देशों के सामान्य नागरिकों से दो तिहाई और देश के 40 प्रतिशत निर्धनतम लोगों के पर्यावरणीय पदचिन्ह से 17 गुना ज्यादा है। इस तरह, अगर भारत के किसी व्यक्ति के पास एक कार और एक लेपटॉप है तो वह 17 बेहद निर्धन भारतीयों के बराबर संसाधनों का दोहन करता है। इस तरह का व्यक्ति लगभग 2.3 औसत विश्व नागरिकों (2007 में वैश्विक प्रति व्यक्ति आय लगभग 10,000 डॉलर थी) के बराबर संसाधनों का उपभोग कर लेता है।²⁷
- पर्यावरण एवं वन मंत्रालय की स्टेट ऑफ एनवायर्नमेंट रिपोर्ट, 2009 के मुताबिक भारत की खाद्य सुरक्षा भविष्य में आने वाले वायुमंडलीय परिवर्तन के कारण खतरे में पड़ सकती है क्योंकि इससे सूखे व बाढ़ों की बारंबारता व सघनता बढ़ जाएगी और छोटे व सीमांत किसानों की उपज पर सीधा असर पड़ेगा। यानी पूरे देश में कृषि उपज उल्लेखनीय रूप से घटने वाली है।²⁸
- वैश्विक कार्बन उत्सर्जन में फिलहाल भारत का हिस्सा लगभग 8 प्रतिशत है। तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था होने के नाते उसका यह हिस्सा भी हर साल बढ़ता जा रहा है। अनुमान लगाया जाता है कि अगर मौजूदा रुझान कायम रहा तो 2030 तक भारत का औसत प्रति व्यक्ति उत्सर्जन स्तर तीन गुना हो जाएगा।²⁹
- भारत की आधी से ज्यादा ऊर्जा कोयले से आती है। ज्यादातर कोयला खानों को संभालने वाले कोल इंडिया के मुताबिक, हमारे इस्तेमाल योग्य कोयला भंडार उतने बड़े नहीं हैं जितना पहले माना जाता था। मौजूदा विकास दर के हिसाब से ये भंडार तकरीबन 80 साल तक ही चल पाएंगे। लेकिन आने वाले दौर की अनुमानित वृद्धि दर के हिसाब से देखें तो इन भंडारों की उम्र सिर्फ 3-4 दशक ही बची है।³⁰ इसके बावजूद गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोतों के लिए हमारा केंद्रीय बजट कुल ऊर्जा बजट का सिर्फ 1.28 प्रतिशत है।³¹
- पानी का बारहमासी संकट देश के नये-नये इलाकों को अपनी चपेट में लेता जा रहा है। भूमिगत पानी के सालाना अतिदोहन की सबसे ऊंची दर भारत की ही है। देश के बहुत सारे भागों में जमीन से पानी निकालने की दर जमीन में पानी के संचरण से दोगुना पहुंच चुकी है। जैसे-जैसे भूमिगत जल भंडार सूखते जा रहे हैं, जलस्तर गिरता जा रहा है। कई जगह (जैसे पंजाब में) तो जलस्तर हर साल 3-10 फुट तक गिरता जा रहा है! जैसे-जैसे वायुमंडलीय परिवर्तन की वजह से तापमान बढ़ रहा है, देश में पानी की प्रति व्यक्ति उपलब्धता, जो 2001 में 1820 घन मीटर प्रति वर्ष थी वह 2050 तक गिर कर केवल 1140 घन मीटर वार्षिक के स्तर पर पहुंच जाएगी। भले ही बारिश के मौसम में बारिश घनी हो जाए लेकिन तब तक बारिश के दिनों में 15 दिन की गिरावट आ चुकी होगी।³²
- 2009 का साल पिछले कई दशकों के दौरान भारत में सबसे ज्यादा सूखे का साल रहा। उस साल मानसून में 20 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई थी और पश्चिमी उत्तर प्रदेश व पंजाब जैसे कुछ कृषि क्षेत्रों में तो ये इससे भी काफी ज्यादा थी। इससे खेती पर बहुत गहरे असर पड़े थे।³³
- खेती की उपज के लिए मिट्टी की ऊपरी सतह बहुत कीमती होती है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आईसीएआर) के मुताबिक हर साल प्रति हैक्टेयर 16 टन ऊपरी मिट्टी यानी पूरे देश में लगभग 5 अरब टन उपजाऊ मिट्टी खत्म होती जा रही है। इस ऊपरी परत को बनने में हजारों साल लगते हैं। बंगलौर के आसपास सूखे से जूझ रहे गांवों के किसान भूखमरी से निपटने के लिए हर रोज अपने खेतों से लगभग 1000 ट्रक मिट्टी खोद कर बंगलौर में चल रहे निर्माण कार्यों के लिए बेचते हैं।³⁴
- 1990 से 2000 के बीच पुनर्वृक्षारोपण की दर 0.57 प्रतिशत सालाना थी। 2000 से 2005 के बीच यह मात्र 0.05 प्रतिशत रह गई थी। अब घने या मध्यम स्तर तक घने जंगल भारत के 12 प्रतिशत से भी कम भू-भाग पर रह गए हैं। इतना ही क्षेत्रफल खुले जंगलों या झाड़ीदार जंगलों का है।³⁵
- 1980-81 के बाद जितनी वन भूमि का सफाया किया गया है उसमें से लगभग 55 प्रतिशत 2001 के बाद हुआ है। 1980-81 के बाद खानों के लिए जितने जंगलों की सफाई हुई है उनमें से 70 प्रतिशत 1997 से 2007 के बीच काटे गए हैं। वैश्वीकरण ने जंगलों की कटाई और जमीन को अनुपजाऊ बनाने में बहुत तेजी ला दी है। यह परिघटना अस्सी के दशक तक काफी हद तक अंकुश में थी।³⁶
- भारत दुनिया के सबसे ज्यादा जैव विविधता वाले इलाकों में से एक है। हमारे यहां 1,30,000 से ज्यादा पादप और जंतु प्रजातियां हैं और फसलों व मवेशियों में जबर्दस्त विविधता है। पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के मुताबिक, हमारी कम से कम 10 प्रतिशत पादप एवं जंतु प्रजातियां खतरे में पड़ चुकी प्रजातियों की सूची में जा चुकी हैं। अगर वायुमंडलीय परिवर्तन की वजह से केवल 2 प्रतिशत तापमान भी बढ़ जाता है तो भारत की 15-40 प्रतिशत जंतु एवं पादप प्रजातियां समाप्त हो जाएंगी। जंगली इलाकों में जलाशयों के निर्माण से कुछ बेहतररीन जंगलों और जैवविविधता से भरे अनूठे प्राकृतिक क्षेत्रों (इकोसिस्टम्स) का विनाश हो चुका है। जल विद्युत और खनन परियोजनाओं के लिए जंगलों की कटाई हमारी जैव विविधता के लिए संभवतः सबसे बड़ा खतरा है। देश के असंख्य पवित्र वन या अन्य समुदाय संरक्षित क्षेत्र, जिनको परंपरागत रूप से ग्रामीण

समुदाय सुरक्षित रखते थे, आर्थिक विकास के इस हमले की वजह से खतरे में पड़ने लगे हैं।³⁷

- भारत की लगभग 70 प्रतिशत आबादी अपनी आजीविका और रोजी-रोटी के लिए जमीन से जुड़े व्यवसायों, जंगलों, जलाशयों और समुद्री पर्यावासों पर यानी स्थानीय प्राकृतिक क्षेत्रों पर आश्रित है। पानी, भोजन, ईंधन, आवास, चारा और औषधियां, सब कुछ उन्हें यहीं से मिलता है। पौधों की लगभग 10,000 और पशुओं की सैकड़ों प्रजातियां जैव विविधता और आजीविका के इस आपसी संबंध को संभाले हुए हैं। देश भर में 27.5 करोड़ लोग अपनी आजीविका के लिए लघु वन उत्पादों पर आश्रित हैं। पर्यावरणीय विनाश इन लोगों के जीवन और आजीविका को सीधे प्रभावित करता है।³⁸
- भारत की 7,500 किलोमीटर लंबी तटरेखा पर 12 बड़े और 185 छोटे बंदरगाह हैं। इनके अलावा यहां दर्जनों ऑयल रिफाइनरी और पेट्रोलसायन संयंत्र तथा अन्य विषैले उद्योग हैं। बहुत सारे ऐसे संयंत्र अभी योजना के चरण में हैं जो समुद्री इलाकों और तटों के लिए और तबाही ला सकते हैं।³⁹
- केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के मुताबिक, 187 तटीय नगर व कस्बे हर रोज 5.5 अरब लीटर गंदा पानी समुद्र में छोड़ते हैं। भारतीय तट रेखा के आसपास लगभग 25 करोड़ लोग रहते हैं जिनमें से बहुत सारे मछुवारे हैं जो लगभग 3,600 गांवों में रहते हैं। इनके अलावा 4,000 वर्ग किलोमीटर से ज्यादा विस्तार वाले वर्षा वन (मैनग्रोव) हैं जो चक्रवात/साइक्लोन से आबादी को बचाने में बहुत अहम भूमिका अदा करते हैं। मछुवाही जैसे परंपरागत रोजगार और नाजुक समुद्री इलाके, दोनों ही गंभीर खतरे में पड़ते जा रहे हैं क्योंकि देश की आर्थिक तरक्की के कारण संसाधनों पर अभूतपूर्व दबाव पड़ने लगा है।⁴⁰
- 2005 में भारत में 1,46,000 टन इलेक्ट्रॉनिक कचरा पैदा हुआ था। 2012 तक इसकी मात्रा 8,00,000 टन तक पहुंच जाने की आशंका है। 1992 की बेसल कन्वेंशन को ध्यान में रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 1997 में एक आदेश जारी करके देश में विषैले कचरे के आयात पर पाबंदी लगाने का

आदेश दिया था। इसके बावजूद, रीसाइक्लिंग योग्य सामग्री के नाम पर विषैला इलेक्ट्रॉनिक कचरा अभी भी देश में लाया जा रहा है। पिछले कुछ सालों के दौरान पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने कई कंपनियों को हजारों टन विषैला ई-कचरा आयात करने के परमिट जारी किए हैं।⁴¹

- कई तरह के खतरनाक और विषैले कचरे का आयात वैश्वीकरण के दौर में बहुत तेजी से बढ़ा है। मिसाल के तौर पर, 2003-04 में प्लास्टिक कचरे का आयात 1,01,312 टन था जो 2008-09 में 4,65,921 टन हो चुका था। इसके अलावा हजारों टन धातु कचरा भी आयात किया जाता है जिसमें अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के युद्धों से निकला हुआ धातु कचरा भी शामिल है। कई बार इसमें जिंदा विस्फोटक उपकरण भी आ जाते हैं जो रीसाइक्लिंग कारखानों में जब-तब फटते रहते हैं।⁴²
- पर्यावरण की रक्षा के लिए कार्यरत संगठन कल्पवृक्ष के मुताबिक भारत सरकार हर रोज तीन खनन, औद्योगिक या अवरचनागत परियोजनाओं को मंजूरी दे रही है! इस अध्ययन को लिखने के समय भारत सरकार के पास 6,000 से ज्यादा परियोजनाएं थीं जिन पर 6 क्षेत्रीय कार्यालयों के जरिए नजर रखी जाती है। इस काम के लिए प्रति कार्यालय 2-4 अधिकारियों का स्टाफ रखा गया है। जिन परियोजनाओं को पर्यावरणीय मंजूरी दी जा चुकी है उनका 3-4 साल में एक बार जायजा लिया जाता है। इन्हीं सब तथ्यों की वजह से अनिवार्य पर्यावरणीय कानूनों का अनुपालन इतना मुश्किल हो गया है। इसके बावजूद, इस पर्यावरणीय मंजूरी को आसान बनाने के लिए पिछले एक-डेढ़ दशक के दौरान संबंधित अधिसूचनाओं में 30 से ज्यादा संशोधन (अधिकांशतः उनको कमजोर करने के लिए) किए गए हैं।⁴³
- अर्थव्यवस्था की कई शाखाओं की शानदार विकास दर के बावजूद सीधे पर्यावरणीय कामों और नियमन पर बजट का बहुत थोड़ा हिस्सा ही खर्च हो रहा है (1 प्रतिशत से भी काफी कम, 2009-10 में यह निवेश आज तक का सबसे कम था)।⁴⁴



आर्थिक वैश्वीकरण : पर्यावरण पर प्रभाव

प्रस्तावना : वैश्वीकरण एवं पर्यावरण

1992 में वैश्वीकरण का सूत्रपात करने वाली नई आर्थिक नीतियों को पेश करते समय तत्कालीन केंद्रीय वित्त मंत्री (वर्तमान प्रधानमंत्री) मनमोहन सिंह ने सुधारों के पर्यावरणीय आयामों पर दिल्ली में एक भाषण दिया था। उस भाषण में उनका मुख्य तर्क ये था कि पर्यावरण संरक्षण के लिए आर्थिक संसाधनों की आवश्यकता होती है जो उनकी नई नीतियों से हासिल हो जाएंगे। सवाल ये है कि दो दशक बाद उनका नुस्खा कारगर साबित हो पाया है या नहीं?

मोटे तौर पर, 1991 से शुरू हुए आर्थिक वैश्वीकरण के निम्नलिखित प्रभाव रहे हैं :

- अर्थव्यवस्था का तेजी से विकास सुनिश्चित करने के लिए बुनियादी ढांचे और संसाधनों के दोहन की क्षमता में भारी इजाफा जरूरी था। इसके लिए संपन्न वर्ग द्वारा अंधाधुंध उपभोग को बढ़ावा दिया गया। इस दौरान हमारी अर्थव्यवस्था मांग केंद्रित रही है और इस बात पर कोई ध्यान नहीं देना चाहता कि कितनी मांग (और किस उद्देश्य से) जायज व वांछनीय मानी जा सकती है और उसके क्या परिणाम हो रहे हैं।
- व्यापार (निर्यात व आयात) उदारीकरण के दो परिणाम रहे हैं : विदेशी मुद्रा जुटाने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का तेजी से दोहन, तथा भारत में उपभोक्ता वस्तुओं व कचरे का बड़े पैमाने पर आयात (तेजी से बढ़ते घरेलू कचरे के अलावा)। इससे कचरे के निस्तारण और स्वास्थ्य के लिए गंभीर समस्याएं पैदा हुई हैं तथा वानिकी, मछुवाही, चरवाही, खेती, स्वास्थ्य व दस्तकारी से जुड़े परंपरागत रोजगारों पर बहुत बुरा असर पड़ा है।
- पर्यावरणीय मानकों व नियमों में ढील दे दी गई है या उनके उल्लंघन को नजरअंदाज कर दिया जा रहा है ताकि देशी और विदेशी, दोनों तरह की कंपनियों को निवेश के लिए अनुकूल माहौल मिले।
- अर्थव्यवस्था को विदेशी निवेश के लिए खोल देने की वजह से ऐसी-ऐसी कंपनियां भी भारत में चली आई हैं जिनका पर्यावरण (और/या सामाजिक मुद्दों) पर बहुत बुरा प्रभाव रहा है। ऊपर से उनके लिए पर्यावरण और सामाजिक समानता प्रावधानों को और कमजोर करने के लिए दबाव बनाया जा रहा है। घरेलू कंपनियों के आकार और ताकत में भी जबर्दस्त इजाफा हुआ है और अब वे भी इसी तरह का दबाव बनाने लगी हैं।
- विभिन्न क्षेत्रों के निजीकरण से उनके प्रदर्शन में कुछ हद तक सुधार तो आता है लेकिन यह व्यवस्था पर्यावरणीय मानकों की अवहेलना या उनमें ढील को भी बेलगाम छूट दे देती है।

अगर मनमोहन सिंह का वह दावा सच्चा होता तो अब तक देश के पर्यावरण की रक्षा के लिए हमारे पास बहुत सारे उपाय और कार्यक्रम होते। लेकिन सच ये है कि पर्यावरणीय संकट तो पहले से और ज्यादा गंभीर हो गया है। हमने आगे दिखाया है कि यह वैश्वीकरण की प्रक्रिया का एक अपरिहार्य और अविभाज्य अंग है। जिस तरह यह सिद्धांत गरीबों के लिए काम नहीं कर पाता कि

हेमलकसा, महाराष्ट्र में बांध-विरोधी रैली।

ताड़ोबा टाइगर रिजर्व, महाराष्ट्र से सटी कोयला खान।

अर्थव्यवस्था की विकास दर बढ़ने से तरक्की के लाभ एक दिन रिस-रिस कर गरीबों तक भी पहुंच जाएंगे (ट्रिकल डाउन सिद्धांत) उसी तरह 'निवेश के लिए संसाधनों की आवश्यकता' का तर्क भी पर्यावरण की सेहत नहीं बचा सकता।

यहां ये स्पष्ट कर देना जरूरी है कि नीचे हमने कई क्षेत्रों और गतिविधियों की जो आलोचना की है उसका ये मतलब नहीं है कि हम उन व्यवसायों और गतिविधियों के खिलाफ हैं। हम ये नहीं कह रहे हैं कि खनन, फूलों की खेती, औद्योगिक मछुवाही, आयात और निर्यात आदि नहीं होना चाहिए। गौर करने वाली बात सिर्फ ये है कि न केवल हम ये सवाल उठाएं कि हमें उनकी जरूरत है या नहीं, बल्कि ये भी पूछें कि हमें उनकी किस हद तक, किस मकसद के लिए और किन हालात में जरूरत है। ये ऐसे सवाल हैं जिनको फिलहाल पीछे ढकेल दिया गया है। दूसरी बात ये है कि नीचे उल्लिखित बहुत सारे रुझान केवल वैश्वीकरण की मौजूदा मुहिम का ही नतीजा नहीं है। उनमें से बहुत सारे ऐसे हैं जो पिछले 5-6 दशकों में अपनाए गए 'विकास' का नतीजा हैं और/या वे अभिशासन, सामाजिक-आर्थिक असमानता व दूसरी मूलभूत समस्याओं का नतीजा हैं। वैश्वीकरण के इस दौर ने उन्हें न केवल और ज्यादा सघन कर दिया है बल्कि ऐसे नए-नए पहलू भी सामने ला दिए हैं जो भारत के पर्यावरण व समाज के लिए इस तरह के 'विकास' के खतरों को और ज्यादा बढ़ाते जा रहे हैं।

बुनियादी ढांचा और माल : मांग ही सब कुछ है!

दो अंकों की आर्थिक वृद्धि दर के एकमात्र लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए मांग ने एक ऐसे ईश्वर की हैसियत पा ली है जिस पर आप उंगली नहीं उठा सकते। बुनियादी ढांचे या कच्चे माल या व्यावसायिक ऊर्जा की जरूरत मानव कल्याण और समानता के आदर्शों को ध्यान में रखकर तय नहीं हो रही है बल्कि इसको आर्थिक वृद्धि दर के लक्ष्यों को ध्यान में रखकर तय किया जा रहा है, यद्यपि इस वृद्धि दर का मानव कल्याण के साथ कोई अनिवार्य सहसंबंध दिखाई नहीं देता।

यही कारण है कि पिछले दो-एक दशकों के दौरान नए बुनियादी ढांचे (हाइवे, बंदरगाह और हवाई अड्डे, शहरी बुनियादी ढांचा और बिजली घर आदि) के निर्माण में बेतहाशा इजाफा हुआ है। नतीजा ये है कि बहुत सारी जमीन इन परियोजनाओं के पेट में चली गई है। ऐसी ज्यादातर जमीन जंगलों व तटों जैसे प्राकृतिक इलाकों की या खेतों और चरागाहों की थीं।



1993-94 और 2008-09 के बीच भारत के खनिज उत्पादन में 75 प्रतिशत इजाफा हुआ है। इसकी वजह से बहुत सारी वन भूमि को खानों में तब्दील कर दिया गया है। 1981 (जब वन भूमि के गैर-वन प्रयोग के लिए केंद्र सरकार की मंजूरी को अनिवार्य घोषित किया गया था) के बाद अब तक लगभग 1.5 लाख हैक्टेयर वन भूमि को खानों में तब्दील किया जा चुका है:

1981-92	: 13,000 हैक्टेयर (8.7 प्रतिशत)
1992-2002	: 57,000 हैक्टेयर (38.2 प्रतिशत)
2002-2011	: 79,000 हैक्टेयर (53 प्रतिशत)।

इन बदलावों के पर्यावरणीय एवं सामाजिक प्रभाव रोंगटे खड़े कर देने वाले रहे हैं। अरावली और शिवालिक पर्वत शृंखलाओं की चूना पत्थर और संगमरमर पहाड़ियों में विस्फोट; गोवा, मध्य प्रदेश व उड़ीसा में लौह अयस्क अथवा बॉक्साइट प्लेटो; पूर्वी भारत में भस्म कोयला मैदान और झारखंड की रेडियोधर्मी यूरेनियम पट्टी, ये सभी इस बात के साक्षी हैं कि आर्थिक 'विकास' किस तरह की तबाही को जन्म दे सकता है।

1991 से दुनिया की कुछ सबसे विशाल खनन कंपनियां भारत में निवेश कर रही हैं। इनमें रियो टिंटो जिंक (ब्रिटेन), बीएचपी (ऑस्ट्रेलिया), एलकॉन (कनाडा), नॉर्स्क हाइड्रो (नार्वे), मेरीडियन (कनाडा), डी बीयर्स (दक्षिण अफ्रीका), रेथियोन (अमेरिका) और फेल्प्स डॉज (अमेरिका) आदि बड़ी-बड़ी कंपनियां शामिल हैं। इनमें से बहुत सारी कंपनियों का पर्यावरणीय एवं सामाजिक रिकॉर्ड भारत की अपनी खनन कंपनियों जैसा या उनसे भी बदतर रहा है।

नीतिगत बदलावों की दिशा इस लक्ष्य पर केंद्रित रही है कि खनन कंपनियों के लिए हालात ज्यादा से ज्यादा आसान हो जाएं। मिसाल के तौर पर, 1996 में खनन कंपनियों को अधिकतम 25 वर्ग किलोमीटर जमीन पट्टे पर दी जा सकती थी; अब यह सीमा 5,000 वर्ग किलोमीटर तक बढ़ा दी गई है! पहले से ज्यादा बड़े इलाकों को जनसुनवाई की शर्तों से बाहर कर दिया गया है। ऐसी ही कई दूसरी राहें भी खनन कंपनियों को दी गई हैं। 2008 की राष्ट्रीय खनिज नीति में तो यहां तक सुझाव दिया गया है कि पर्यावरणीय नियमन को कंपनियों की मर्जी पर छोड़ दिया जाए!

खनन क्षेत्र में नियमन का अभाव, जो कि भारत और दुनिया के लालच को पूरा करने के लिए चलाई जा रही मांग केंद्रित अर्थव्यवस्था का अपरिहार्य परिणाम है, को अवैध खनन के एक के बाद एक आए असंख्य रहस्योद्घाटनों में देखा जा सकता है। अकेले कर्नाटक में 2006 से 2009 के बीच अवैध खनन की 11,896 घटनाएं सामने आयी थीं। इसी दौरान आंध्र प्रदेश में ऐसी 35,411 घटनाएं सामने आयीं।

निर्यात : भविष्य की नीलामी

सरकारी प्रोत्साहन की बदौलत 2003-04 के बाद भारत के निर्यात में सालाना 25 प्रतिशत से ज्यादा इजाफा हुआ है। 2011-12 में भारतीय निर्यात 300 अरब डॉलर तक पहुंच चुका था। अगर ये मान लिया जाए कि निर्यात कुछ हद तक वांछनीय या अनिवार्य है तो भी एक जिम्मेदारी भरी नीति में कम से कम निम्नलिखित सिद्धांतों का समावेश होना चाहिए:

- देश के नागरिकों के लिए उन चीजों की कमी न पड़े जिनका निर्यात किया जा रहा है;

- निर्यात के लिए चीजों के खनन या निर्माण में पर्यावरणीय दृष्टि से टिकाऊ पद्धति का प्रयोग किया जाए;
- जिन क्षेत्रों से ऐसे संसाधन निकाले जा रहे हैं वहां रहने वाले स्थानीय समुदायों के अधिकारों का सम्मान किया जाए; तथा
- इन समुदायों को प्राथमिक लाभान्वितों की श्रेणी में रखा जाए।

वैश्वीकरण के दौर में निर्यात को बढ़ाने की झोंक में इन सारे सिद्धांतों की जम कर अवहेलना की गई है। खनन की तरह समुद्री मछुवाही भी एक मुख्य लक्ष्य रही है। 1990-91 में समुद्री उत्पादों का निर्यात 1,39,419 टन था जो 2008-09 में 6,02,835 टन हो गया था। जहां पहले हम महज दर्जन भर देशों को थोड़े से उत्पाद भेजा करते थे वहीं अब हम 90 देशों को लगभग 475 तरह की चीजों का निर्यात करते हैं। दुनिया भर में मात्रा और मूल्य, दोनों लिहाज से भारत दूसरा सबसे बड़ा मछली खेती उत्पादक देश बन गया है। यह सुनने में तो अच्छा लगता है, मगर इसकी कीमत?

एक अध्ययन से पता चला है कि आंध्र प्रदेश व तमिलनाडु में झींगा खेती की सामाजिक एवं पर्यावरणीय लागत उसकी आर्थिक आमदनी से 3.5 गुना ज्यादा बैठ रही है (सालाना नुकसान : 6,728 करोड़ रुपये; सालाना आय 1,778 करोड़ रुपये)। जैसे-जैसे नए-नए इलाके झींगा खेती के लिए तब्दील होते जाते हैं वैसे-वैसे स्थानीय समुदायों के आहार का मुख्य हिस्सा - स्थानीय मछलियां, जैसे मुलेट (मुगीलीदाई) और पर्ल स्पॉट (एट्रोलस सुराटेंसिस) - खत्म होता जाता है। 2008 में समुद्र से पकड़ी गई मछलियों की तादाद 30 लाख टन तक पहुंच गई थी और तटवर्ती पानी में (गहरे समुद्र में नहीं) अतिदोहन के लक्षण दिखाई देने लगे थे और कई प्रजातियों का अतिदोहन हो चुका था। दसवीं पंचवर्षीय योजना के मछुवाही कार्यबल की रिपोर्ट के अनुसार, ये समुद्र को 'खुली पहुंच वाले क्षेत्र' के रूप में इस्तेमाल करने का नतीजा है जहां परंपरागत मछुवाही समुदायों को कोई पट्टेदारी अधिकार नहीं दिए गए हैं। तकनीकी भी बदल चुकी है।

सरकार का दावा है कि नई नीतियों के तहत बड़े ऑपरेटर्स को केवल गहरे समुद्र में ही मछली पकड़ने की इजाजत दी जाएगी जहां परंपरागत मछुवारे नहीं जाते। मगर अभी तक के अनुभव तो यही बताते हैं कि बड़े ट्रॉलर मालिक भी तट के आसपास ही मछली पकड़ना ज्यादा सुगम और सस्ता मानते हैं। ऊपर से ये ट्रॉलर मछलियों के प्रजनन के मौसम में भी गैरकानूनी ढंग से मछलियां पकड़ने से बाज नहीं आते। इन्हीं कारणों से ट्रॉलर मालिकों और स्थानीय मछुवारों के बीच मारपीट की घटनाएं आम हो गई हैं।

आयात उदारीकरण : कूड़ेदान बनता भारत

पिछले एक दशक के दौरान भारत औद्योगिक देशों से आने वाले खतरनाक और विषैले कचरे का एक बड़ा आयातक बन गया है। अब हम मोटा-मोटी 100 तरह का कचरा आयात करते हैं। इनमें से कुछ दर्जन चीजें बेहद खतरनाक हैं। धातु कचरे का आयात सालाना कई मिलियन टन तक पहुंच गया है। 1996-97 में कचरे की छीलन व पीवीसी (प्लास्टिक) कचरे का आयात लगभग 33 टन था जो 2008-09 में 12,224 टन तक जा पहुंचा था। प्लास्टिक कचरे का आयात 2003-04 में 1,01,313 टन था जो 2008-09 में 4,65,921 टन यानी चार गुने से भी ज्यादा हो चुका था।

इस मामले में पेप्सिको और हिंदुस्तान लीवर जैसे बड़े औद्योगिक घराने भी अकसर अपराधी दिखाई देते हैं।

आयातित कचरे में एक बहुत बड़ा हिस्सा कंप्यूटर और इलेक्ट्रॉनिक उद्योग का रहा है और यह लगातार बढ़ता जा रहा है। कचरे से संबंधित मुद्दों पर काम करने वाली संस्था टॉक्सिक्स लिंक की एक जांच के मुताबिक, दिल्ली के रीसाइक्लिंग कारखानों में लगभग 70 प्रतिशत ई-कचरा औद्योगिक देशों द्वारा भारत में भेजा गया था।

उपभोक्तावाद और कचरा

भारत में आडंबरपूर्ण उपभोग की मौजूदा लहर देश के मुट्ठी भर अमीर तबके में विदेशी उपभोक्ता वस्तुओं की भूख से पैदा हुई है। अस्सी के दशक में तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने आयात क्षेत्र को खोलना शुरू किया था लेकिन उपभोक्तावाद को सबसे बड़ा उछाल तभी मिला जब आर्थिक 'सुधार' शुरू किए गए।

विलासिता वस्तुओं या लज़री गुड्स के उत्पादन में जो भारी इजाफा हुआ है उससे पर्यावरणीय संतुलन पर गहरे असर पड़े हैं। इस प्रक्रिया में संसाधनों के खनन (खदानें, पेड़ों की कटाई) से उत्पादन (प्रदूषण, कामकाजी खतरे आदि) तक बहुत सारे दुष्परिणाम सामने आते हैं। दि एनर्जी रिसर्च इंस्टीट्यूट (टेरी) ने गैर-पुनर्नवीकरणीय पदार्थों (जैसे खनिज पदार्थ), औद्योगिक उपभोक्ता वस्तुओं (जिनमें रेफ्रिजरेटर और एयरकंडीशनर जैसे पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाले उत्पाद शामिल हैं), वाहनों आदि के इस्तेमाल में तेज इजाफे का अध्ययन किया है। ये सारे नुकसान सिर्फ जनसंख्या वृद्धि का परिणाम नहीं हैं बल्कि संभवतः बदलती जीवनशैली का परिणाम ज्यादा हैं। अब उपभोक्ताओं की पसंद-नापसंद भी बदल रही है। पहले गैर-डिब्बाबंद वस्तुओं की मांग ज्यादा थी तो अब डिब्बाबंद वस्तुओं की मांग बढ़ गई है। टेरी का अनुमान है कि 2047 तक डिब्बाबंद या पैकेटों में आने वाली वस्तुओं की पैकिंग पर होने वाला कागज का उपभोग प्रतिवर्ष 13.5 किलोग्राम प्रति व्यक्ति तक पहुंच जाएगा जो 1997 में सालाना केवल 2.7 किलोग्राम था। इलेक्ट्रॉनिक कचरा केवल पिछले दो-ढाई दशकों की देन है। 2005 में 1,46,180 टन इलेक्ट्रॉनिक कचरा पैदा हो रहा था जो 2012 तक 8,00,000 टन तक जा पहुंचेगा।

प्लास्टिक पदार्थ हमारे लोगों की जिंदगी में कितनी गहरी पैठ बना चुके हैं इसका महज दो दशक पहले तक उसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता था। 1991 से अब तक हमारी विभिन्न प्रकार के प्लास्टिक पदार्थों की उत्पादन क्षमता 10 लाख टन से बढ़ कर 50 लाख टन से भी काफी ऊपर जा चुकी है। 2000-01 तक भारत 5,400 टन प्लास्टिक कचरा प्रतिदिन और लगभग 20 लाख टन प्रति वर्ष पैदा कर रहा था (बाद के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं)।

उपभोग असमानता

2007 में ग्रीनपीस इंडिया ने भारत में वायुमंडलीय परिवर्तन के मुद्दों पर एक रिपोर्ट जारी की थी जिसमें बताया गया था कि भारत की आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा बेहिसाब कार्बन उत्सर्जन पैदा कर रहा है। अब तक यह बात इस हकीकत के पीछे छिपी हुई थी कि ज्यादातर भारतीय बहुत कम मात्रा में कार्बन उत्सर्जन पैदा कर रहे थे और इसकी वजह से औसत कार्बन उत्सर्जन काफी कम था। इस रिपोर्ट में पाया गया कि देश के सबसे अमीर लोग (ऐसे लोग जिनकी आमदनी 30,000 रुपये प्रति माह से ज्यादा है) सबसे

निर्धन तबके (जिनकी आमदनी 3000 रुपये प्रति माह से कम है और जिनकी संख्या देश की आधी से ज्यादा आबादी बैठती है) के मुकाबले 4.5 गुना ज्यादा कार्बन उत्सर्जन पैदा कर रहे थे। 8000 रुपये माहवार से ज्यादा कमाने वाले 15 करोड़ भारतीय पहले ही 2.5 टन प्रति व्यक्ति की वार्षिक वैश्विक सीमा से ऊपर जा चुके हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि अगर हम वायुमंडल में तापमान वृद्धि को 2 डिग्री से नीचे रोकना चाहते हैं तो हमें प्रति व्यक्ति उत्सर्जन स्तर को इससे ऊपर नहीं जाने देना चाहिए। सामान्य बतियां, पंखें और टेलीविजन सभी वर्गों में आम हैं (हालांकि इनका भी अमीर ही ज्यादा इस्तेमाल करते हैं) लेकिन कई उपकरण - एयर कंडीशनर, बिजली के गीज़र, वॉशिंग मशीन, बिजली या इलेक्ट्रॉनिक किचन उपकरण, डीवीडी प्लेयर्स, कंप्यूटर आदि - ऐसे हैं जो मुख्य रूप से केवल अमीर परिवारों में ही दिखाई पड़ते हैं। दूसरी बात, जीवाश्म ईंधनों का इस्तेमाल करने वाले यातायात साधनों, जिनमें गैस से चलने वाले कारों और हवाई जहाज भी शामिल हैं, के इस्तेमाल में भारी इजाफा भी अमीरों की उपभोग प्रवृत्ति की ही विशेषता है।

कार्बन उत्सर्जन तो उपभोग असमानता का सिर्फ एक संकेतक है। अगर हम उन सारे उत्पादों और सेवाओं को भी जोड़ लें जो सबसे अमीर वर्गों के लोग इस्तेमाल करते हैं और ये देखें कि वे कितना कचरा पैदा करते हैं तो उनके व्यवहार का पर्यावरणीय प्रभाव सबसे निर्धन तबकों के पर्यावरणीय प्रभाव के मुकाबले और भी ज्यादा भयानक दिखाई पड़ेगा।

आंतरिक उदारीकरण : खुला खेल फरूखाबादी

दुनिया के तमाम औद्योगिक देशों में औद्योगिक व विकास परियोजनाओं से संबंधित पर्यावरण मानक व नियंत्रण सख्त होते जा रहे हैं क्योंकि परियोजना प्राधिकरण और कॉर्पोरेट घराने अपने दम पर पर्यावरणीय एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का पालन करने में नाकाम रहे हैं। भारत में यही प्रक्रिया उलटी दिशा में चल रही है।

1994 में पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 के अंतर्गत एक अधिसूचना जारी की गई थी। इसके माध्यम से यह अनिवार्य किया गया था कि कुछ खास किस्म की परियोजनाओं के लिए पर्यावरण प्रभाव आकलन (ईआईए) अनिवार्य होगा। हालांकि यह अधिसूचना भी काफी कमजोर थी और विभिन्न प्रकार की क्रियान्वयन विफलताओं का शिकार रही है लेकिन इसमें विकास नियोजन के लिए पर्यावरणीय संवेदनशीलता के प्रति एक हद तक प्रतिबद्धता जरूर दिखायी गई थी। हमारे उद्योगपति, नेता और बहुत सारे विकास अर्थशास्त्री इसे सिर्फ एक सिरदर्दी ही मानते रहे। लिहाजा भारत सरकार द्वारा बनाई गई एक समिति ने दलील दी कि इस पर्यावरणीय रुकावट पर अंकुश लगाया जाए और विश्व बैंक के पैसे



भारत के अमीर बेहिसाब कचरा पैदा करते हैं।

से किए गए एक पर्यावरणीय अभिशासन आकलन में भी इस नियम तथा दूसरे प्रावधानों में सुधार (यानी उनको शिथिल करने) का सुझाव दिया गया। इस तरह, 2006 में गैर-सरकारी संस्थाओं के तमाम विरोध के बावजूद सरकार ने इस अधिसूचना को बदल दिया और औद्योगिक व विकास परियोजनाओं के लिए पर्यावरणीय मंजूरी लेना बेहद आसान बना दिया जबकि अनिवार्य जनसुनवाईयों के प्रावधान को कमजोर कर दिया।

इस अधिसूचना में पर्यटन उद्योग को भी ऐसी परियोजनाओं की सूची से बाहर निकाल दिया गया जिनको पर्यावरणीय मंजूरी की जरूरत है जबकि बहुत सारे स्थानों पर यह उद्योग पूरी तरह बेलगाम साबित हो चुका है।

इन बदलावों (तथा इस अध्याय में उल्लिखित दूसरे बदलावों) का कुल नतीजा ये रहा है कि बहुत सारी परियोजनाएं बड़ी आसानी से पर्यावरणीय मंजूरी पा लेती हैं। इसके चलते केंद्रीय पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के लिए आवेदनों की जांच करना या उनके प्रभावों पर नजर रखना भी असंभव हो गया है। 2009 तक पर्यावरण एवं वन मंत्रालय की निगरानी में 6,000 से ज्यादा परियोजनाएं थीं और इस काम के लिए केवल 20 कर्मचारी थे। गौरतलब है कि पर्यावरणीय मंजूरी पा चुकी परियोजनाओं की 3-4 साल में केवल एक बार जांच की जाती है।

पर्यावरणीय नियमन पर वैश्वीकरण के प्रभावों को सबसे स्पष्ट रूप से तब समझा जा सकता है जब हम ये देखते हैं कि किस तरह वन संरक्षण अनिधियम, 1980 (जिसके तहत वन भूमि के

गैर-वन प्रयोग संबंधी सारे प्रस्तावों पर केंद्र सरकार की अनुमति का प्रावधान किया गया था) वन सफाया अधिनियम बन चुका है। जैसा कि खनन परियोजनाओं के संबंध में पीछे जिक्र किया गया था, वैश्वीकरण के दौर में जंगलों के सफाये में बहुत ज्यादा तेजी आयी है। 1980-81 के बाद जितने जंगल काटे गए हैं उनमें से लगभग आधे 2001-02 के बाद ही कटे हैं।

1991 में तटीय नियमन क्षेत्र (कोस्टल रेग्यूलेशन जोन या सीआरजेड) अधिसूचना को पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 के तहत ऐसी गतिविधियों पर नजर रखने के लिए जारी किया गया था जो प्राकृतिक क्षेत्रों और आजीविकाओं के लिए नुकसानदेह हो सकती हैं। हालांकि ये अधिसूचना मुकम्मल नहीं मानी जा सकती और ज्यादातर राज्य सरकारों द्वारा इसे अनमने ढंग से ही लागू किया गया है, फिर भी, इस अधिसूचना से बहुत सारे तटीय क्षेत्रों और वहां रहने वाले मछुवारों की आजीविकाओं को बचाने में मदद मिली है। यह अधिसूचना भी औद्योगिक और व्यावसायिक लॉबियों की आंख की किरकिरी बननी ही थी और लिहाजा उन्होंने सरकार पर दबाव डालकर मूल अधिसूचना में लगभग 20 बिंदुओं पर रियायतें हासिल कर ही लीं। फलस्वरूप, 2005-06 में सरकार ने अधिसूचना को भी सिर से बदलने का मन बना लिया और एक ऐसी व्यवस्था सुझायी जिसमें राज्य सरकारें ये तय कर सकती हैं कि तटों के आसपास विभिन्न क्षेत्रों में किन चीजों को मंजूरी दी जा सकती है और किन चीजों को मंजूरी नहीं दी जा सकती। नागर समाज संगठन और मछुवाही समुदाय (नैशनल फिशवर्कर्स फोरम जैसे नेटवर्कों के जरिए) ने इस प्रस्ताव की बहुत तीखी आलोचना की है क्योंकि यह व्यावसायिक और औद्योगिक स्वार्थों के सामने पूरी तरह घुटने टेक देने का उदाहरण है।

वैश्वीकरण के युग में पर्यटन को जबर्दस्त बढ़ावा मिला है। घरेलू पर्यटकों की संख्या 1996 में 14 करोड़ थी जो 2007 में बढ़कर 52.7 करोड़ तक पहुंच चुकी थी। इसी दौरान विदेशी सैलानियों की संख्या भी 22.9 लाख से बढ़कर 50.8 लाख तक पहुंच गई थी। पहले भारत के कई इलाके सैर-सपाटे के लिए प्रतिबंधित थे लेकिन अब उन्हें भी सैलानियों के लिए खोल दिया गया है। इनमें लद्दाख, अंडमान व निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप और बहुत सारे उत्तर-पूर्वी क्षेत्र शामिल थे जो पर्यावरणीय, सांस्कृतिक एवं रक्षा संबंधी दृष्टि से बहुत संवेदनशील इलाके हैं। जिन इलाकों में वैश्वीकरण के पहले से ही सैर-सपाटे की खुली छूट थी वे बेलगाम पर्यटन गतिविधियों के बोझ से चरमराते जा रहे हैं। पर्यटन उद्योग द्वारा कानूनों की अवहेलना के सैकड़ों मामले सामने आ चुके हैं। उदाहरण के लिए, तटों पर बनने वाले पर्यटन रिजॉर्ट्स द्वारा सीआरजेड अधिसूचना की अवहेलना (केवल केरल में स्थित कोवलम बीच इलाके में ही इस अधिसूचना के उल्लंघन की 1500 से ज्यादा घटनाएं प्रकाश में आ चुकी हैं)। कान्हा, बांधवगढ़, कॉर्बेट, पेरियार, रणथंभौर, बंदीपुर और नागरहोले जैसे बाघ संरक्षण क्षेत्र (टाइगर रिजर्व) एवं अन्य संरक्षित क्षेत्र रिजॉर्ट्स से घिर चुके हैं। ये रिजॉर्ट्स इन अभ्यारण्यों के कार्मिक बल और सुविधाओं पर बेहिसाब दबाव पैदा करते हैं, पर्यटन के दुष्परिणामों को रोकने के लिए बनाए गए नियमों की धजियां उड़ाते हैं और अभ्यारण्यों के रखरखाव में कोई योगदान नहीं देते।

भारत के मध्य में स्थित विशाल भूभाग - जहां देश के सर्वाधिक संवेदनशील जनजातीय समुदाय और बढ़िया जंगल स्थित हैं - को खनन, इस्पात उद्योग व अन्य उद्योगों के लिए

नदी क्षेत्र को तहस-नहस करती लोअर सुबांसिरी हाइड्रो परियोजना, अरुणाचल प्रदेश।



औद्योगिक घरानों को सौंपा जा रहा है। क्योंकि आदिवासी प्रतिरोध और तथाकथित नक्सल अथवा माओवादी संगठनों⁴⁵ की पकड़ के कारण इनमें से कोई भी योजना साकार नहीं हो पा रही है इसलिए राज्य सरकारें नक्सलवाद से लड़ने के नाम पर आदिवासियों को ही एक-दूसरे के खिलाफ लड़वाने लगी हैं। सलवा जुद्ध (शांतिपूर्ण शिकार) नामक इस मुहिम ने गृह युद्ध जैसी स्थिति पैदा कर दी है जिसमें सैकड़ों गांवों को या तो जबरन खाली करवा दिया गया है या लोगों को खदेड़ दिया गया है। केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय की एक उच्चस्तरीय समिति ने अपनी झूफट रिपोर्ट में बताया था कि एस्सार और टाटा जैसे विशाल औद्योगिक घराने “कोलम्बस के बाद से अब तक आदिवासी जमीनों पर हो रहे सबसे बड़े कैंजे की मुहिम में सबसे आगे हैं।” अंतिम रिपोर्ट से इस वाक्यांश और विशेष औद्योगिक घरानों के नाम, दोनों बातों को हटा दिया गया था। इसी बीच फेडरेशन ऑफ इंडियन चेम्बर्स ऑफ कामर्स ऐण्ड इंडस्ट्री (फिक्की) द्वारा 2009 में जारी की गई ‘राष्ट्रीय सुरक्षा और आतंकवाद’ नामक रिपोर्ट में मध्य भारत को कंपनियों द्वारा दोहन के लिए खोलने की वकालत की गई है। इसमें कहा गया है कि “विशाल खनिज भंडारों वाले इलाकों में फैल रहा माओवादी उग्रवाद जल्दी ही कई औद्योगिक निवेश योजनाओं को अस्त-व्यस्त कर सकता है। ...जब भारत को अपनी औद्योगिक मशीनरी को और तेज करना था और जब विदेशी कंपनियां भी इस जश्न में शरीक होने आ रही हैं तभी नक्सलवादी गुट खनन और स्टील कंपनियों के साथ दो-दो हाथ करने पर आमादा हैं जबकि ये कंपनियां भारत की दीर्घकालिक प्रगति के लिए बहुत आवश्यक हैं। ...इस चिंता के पीछे एक वजह ये है कि औद्योगिक जगत तथा नक्सलवादियों के प्रभुत्व वाले जंगल एक-दूसरे के नजदीक आते जा रहे हैं...। भारत के समृद्ध शहरी उपभोक्ता ऑटो, उपकरण और मकान खरीद रहे हैं तथा वे देश की सड़कों, पुलों और रेलमार्गों में सुधार चाहते हैं। भारतीय मेन्यूफैक्चरिंग को आगे बढ़ाने और उपभोक्ताओं को संतोष देने के लिए देश को रिकॉर्ड मात्रा में सीमेंट, स्टील और बिजली की जरूरत है...। इस राष्ट्रीय चुनौती से निपटने के लिए एक अनुकूल सामाजिक व आर्थिक वातावरण की आवश्यकता है। इसके बावजूद नक्सलवादियों से टकराव जारी है...। भारत के लौह अयस्क भंडारों का 23 प्रतिशत और कोयले के विशाल भंडार नक्सलवादी गतिविधियों का केंद्र बन चुके छत्तीसगढ़ में ही स्थित हैं। राज्य सरकार ने टाटा स्टील और आरसेलर मिटल (एमपी), डी बीयर्स कंसॉलिडेटेड माइन्स, बीएचपी बिलिटन (बीएचपी) और रियो टिंटो (आरटीपी) के साथ अरबों डॉलर के समझौतों पर दस्तख्त किए हैं। इसी तरह के सौदे दूसरी राज्य सरकारें भी कर चुकी हैं। इसके अलावा कैटरपिलर (सीएटी) जैसी अमेरिकी कंपनियां भी पूर्वी भारत में सक्रिय खनन कंपनियों को अपने औजार बेचना चाहती हैं।”

गैर-टिकाऊपन की तरफ अंधी दौड़ ?

पिछले कुछ दशकों के दौरान हमने अपने पर्यावरण के साथ जैसा बर्ताव किया है, उसी की वजह से पर्यावरणवादी और सामाजिक कार्यकर्ता आगाह करने लगे हैं कि हम ‘विकास’ के जिस रास्ते पर बढ़ रहे हैं वह टिकाऊ रास्ता नहीं है। प्रेक्षकों और अनुभवों पर आधारित इस निष्कर्ष की ग्लोबल फुटप्रिंट नेटवर्क (जीएफएन) तथा कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्रीज (सीआईआई) द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट में भी पुष्टि हो चुकी है। 2008 में जारी किए गए इस वक्तव्य में कहा गया है कि :

पर्यावरण के प्रति पूंजीवादी भारत के रवैये का एक उदाहरण।

- अमेरिका और चीन के बाद दुनिया में तीसरे सबसे बड़े पर्यावरणीय पदचिन्ह (प्रभाव) भारत के ही हैं;
- भारत में जितने प्राकृतिक संसाधनों की क्षमता है उसके मुकाबले वह लगभग दोगुना प्राकृतिक संसाधनों की खपत कर रहा है (यानी ‘जैव क्षमता’ का दोगुना);
- पिछले चार दशकों के दौरान मनुष्य के उपभोग को बर्दाश्त करने की प्रकृति की क्षमता भारत में लगभग आधी ही रह गई है।

नब्बे के दशक के आखिर में किए गए एक अध्ययन में टेरी ने ये निष्कर्ष दिया था कि भारत की पर्यावरण लागतें कृषि उत्पादन में गिरावट, जंगलों के सफाये के कारण लकड़ी के मूल्य में गिरावट, जल व वायु प्रदूषण के कारण पैदा हो रही स्वास्थ्य लागतों तथा क्षीण होते जा रहे जल संसाधनों की वजह से पैदा हो रही पर्यावरण लागतें जीडीपी के 10 प्रतिशत से भी ऊपर जा चुकी हैं। इसके अलावा मिट्टी की उपजाऊ क्षमता में गिरावट के कारण भी सालाना 11 से 26 प्रतिशत तक कृषि उपज का नुकसान हो रहा है।

भारत के ऊर्जा परिदृश्य पर तैयार की गई एक रिपोर्ट में कुछ सकारात्मक विश्लेषण दिखाई देता है : भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्न कार्बन वृद्धि के कुछ बहुत शक्तिशाली पहलू दिखाई देते हैं जिनके चलते इसकी व्यापक ऊर्जा एवं CO2 सघनता चीन से कम तथा अमेरिका के बराबर है। इसके बावजूद, रिपोर्ट का निष्कर्ष यही है कि : इन सकारात्मक लक्षणों के बावजूद भारत टिकाऊ विकास की दिशा में किसी बढ़िया रास्ते पर कतई नहीं चल रहा है। इसका कारण ये है कि यहां विकास बहुत असमतल रहा है, बहुत बड़ी आबादी पीछे छूटती जा रही है; और अकुशल कोयला प्रौद्योगिकी व खस्ता वितरण प्रणाली पर आश्रित ऊर्जा क्षेत्र के कार्बन सघनता दुनिया में अभी भी सबसे ऊपरी पायदान पर आती है।

वायुमंडलीय परिवर्तन का प्रभाव और प्रतिक्रिया

अस्सी के दशक में जब दक्षिण के देशों पर आर्थिक वैश्वीकरण थोपा जाने लगा था, तभी से ऐसे उत्सर्जनों में सबसे भारी इजाफा हुआ है जो धरती का तापमान बढ़ा रहे हैं और वायुमंडलीय परिवर्तन के लिए जिम्मेदार हैं। फलस्वरूप, आने वाले समय में भारत को कई तरह के दुष्परिणामों का सामना करना पड़ेगा। बाइसवीं शताब्दी की शुरुआत तक समुद्री जल स्तर में एक मीटर तक का इजाफा हो चुका होगा जो लगभग 5,764 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल को पानी की चपेट में ले लेगा। इससे 70 लाख से ज्यादा लोग विस्थापित होंगे। कुल वर्षा में तो इजाफा होगा लेकिन बहुत सारे इलाकों में बारिश के दिनों और मात्रा में गिरावट आ जाएगी जिससे ऐसे सूखे और बाढ़ की



स्थितियाँ पैदा होंगी जो हमने आज तक कभी नहीं देखी हैं। इसके अलावा, तापमान में वृद्धि के कारण अनाज उत्पादन में भी गिरावट आ जाएगी (कुछ फसलों में 20 प्रतिशत तक की गिरावट)। समुद्री पानी के तापमान में आने वाले बदलावों से समुद्र की उत्पादकता पर असर पड़ेगा। समृद्ध मूँगा (कोरल) इलाके मरने लगेंगे और मछलियों की आवाजाही के रुझानों में बदलाव आ जाएंगे जिससे मछुवारों का जीना दूभर हो जाएगा।

बेशक वैश्विक धरातल पर भारत सरकार उत्तर के देशों से जवाबदेही और पहलकदमी की मांग करती रही है और ये एक जायज बात है लेकिन उसकी अपनी घरेलू नीतियाँ अभी भी बेहद कमजोर और फिसलन भरी दिखाई देती हैं। 2009 में भारत सरकार ने वायुमंडलीय बदलाव की राष्ट्रीय कार्ययोजना (एनएपीसी) जारी की थी। इसमें सौर ऊर्जा पर जोर तथा उपयुक्त मिशनों का गठन करके ऊर्जा कुशलता का बंदोबस्त करने जैसे कुछ सकारात्मक तत्व सुझाए गए हैं। लेकिन इसमें गंभीर अवधारणात्मक और क्रियान्वयन संबंधी समस्याएँ भी हैं (मसलन, सौर ऊर्जा पर तो जोर दिया गया है मगर दूसरी पुनर्नवीकरणीय ऊर्जाओं पर कोई ध्यान नहीं है, विकेंद्रीकृत ऊर्जा उत्पादन पर जोर नहीं दिया गया है और ऊर्जा कुशलता में कई कड़ियाँ गायब हैं)। बहुत सारे दूसरे पहलू (जैसे टिकाऊ कृषि, और पानी संबंधी मिशन) अभी भी थकी हुई, बीते जमाने की रणनीतियों में खोए हुए हैं जिनमें कोई साहसिक, नए तरह की सोच दिखाई नहीं देती। पानी मिशन अभी भी बड़े बांधों पर ही निर्भर है और उनकी भारी पर्यावरणीय एवं सामाजिक लागतों को लगातार नजरअंदाज किया जा रहा है। खेती में रासायनिक उर्वरकों (जो भारत में लगभग 6 प्रतिशत वायुमंडलीय उत्सर्जनों के लिए जिम्मेदार हैं) से जैविक खादों की तरफ कोई उल्लेखनीय बदलाव दिखाई नहीं दे रहा है (यह मिशन अभी भी केवल तैयारी के चरण में है)। इस आशय की असमानताओं का कोई जिक्र नहीं है कि भारत की आबादी के विभिन्न तबकों ने कितना वायुमंडलीय क्षेत्र घेरा हुआ है और महाधनी तबका किस तरह के भद्रे उपभोक्तावादी आचरण में डूबा हुआ है। एनएपीसी का मसविदा तैयार किया जा चुका है और अलग-अलग मिशनों की मार्फत इसमें संशोधन भी हो रहे हैं लेकिन एकाध मिशन को छोड़ कर न तो इसमें आम जनता की राय ली जा रही है और न ही किसी तरह की पारदर्शिता है।

विविध संकट : भोजन, पानी, आजीविका

भारत की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा बहुत गंभीर संकटों - खाद्य असुरक्षा, पानी की कमी, अपर्याप्त ईंधन तथा असुरक्षित आजीविका - से जूझ रहा है। ये सारे संकट वैश्वीकरण के मौजूदा चरण से पहले भी मौजूद थे और 'विकासफ के आधुनिक रूपों के आने से पहले भी उनकी आहट सुनाई पड़ने लगी थी लेकिन मौजूदा 'विकासफ और वैश्वीकरण को इन्हीं संकटों का ईलाज बता कर तो लागू किया गया था। परंतु ईलाज तो दूर की बात रही, इस ईलाज ने तो इन संकटों को और बढ़ा दिया है और बहुत सारे इलाकों व समुदायों में इन्होंने विकराल रूप ले लिया है।

पहले खाद्य असुरक्षा पर बात करें। हर रोज भूखे पेट सोने वाली आबादी का प्रतिशत 1990 के दशक में 24 प्रतिशत से गिर कर 2004-06 में 22 प्रतिशत रह गया था। ये बहुत मामूली गिरावट है। इसके साथ यह भी तथ्य है कि दुनिया में सबसे ज्यादा कुपोषित और भूखे लोग भारत में ही हैं। खाद्य एवं कृषि संगठन (एफएओ) के मुताबिक 2004-06 के दौरान यह संख्या

25.1 करोड़ यानी देश की आबादी का लगभग एक चौथाई थी। अभी भी हमारे पास काफी मात्रा में अन्न है, भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई) के भंडारों में अभी भी अनाज भरा है। इसके बावजूद हर चौथा हिंदुस्तानी भूखे पेट सोने को मजबूर है। हमारे यहां एक तबका ऐसा है जो अनाज खरीद ही नहीं सकता और सरकार की कल्याण योजनाएं उस तक नहीं पहुंच पातीं। इक्कीसवीं सदी में खाद्य पदार्थों की कीमतों में चौंकाने वाले इजाफे से ये स्थिति और खराब हो गई है। जैसे-जैसे करोड़ों लोग प्राकृतिक संसाधनों तथा कृषि आधारित आजीविकाओं से वंचित होते जा रहे हैं और बाजार अर्थव्यवस्था पर आश्रित होते जा रहे हैं वैसे-वैसे भोजन केवल नकदी के जरिए ही उपलब्ध होने लगा है जो कि ऐसे लोगों के लिए एक बहुत दुर्लभ संसाधन है। परंपरागत अनाज (जैसे ज्वार) और दलहन अथवा जंगलों व जलाशयों और नदियों से मिलने वाले जंगली व अर्धजंगली आहार आदि परंपरागत पोषण स्रोतों की उपलब्धता में गिरावट आई है और उनकी कीमतें भी गरीबों की पहुंच से बाहर चली गई हैं (मसलन नब्बे के दशक की शुरुआत से दलहन की प्रति व्यक्ति उपलब्धता में 26 प्रतिशत गिरावट आ चुकी है)।

जल असुरक्षा भी उतनी ही गंभीर है। ग्रामीण और शहरी इलाकों के करोड़ों लोगों के लिए पीने का पर्याप्त पानी जुटाना एक दैनिक संघर्ष बना हुआ है। जलाशयों, नदियों व भूमिगत जलस्रोतों का कुप्रबंधन, वर्षा जल को खींचने वाले कैचमेंट क्षेत्रों का क्षरण, बार-बार आने वाले सूखे, शहरों में आबादी की तेज वृद्धि, सतही और भूमिगत स्रोतों का प्रदूषण इसके सबसे प्रमुख कारण हैं। नीतियों की विफलता (जल संरक्षण व प्रबंधन) तथा जल संसाधनों पर शक्तिशाली कंपनियों व अमीर तबके का कैंजा इन समस्याओं की एक बड़ी जड़ में है (उदाहरण के लिए, देश के बहुत सारे भागों में स्थित कोका कोला के बॉटलिंग संयंत्रों ने स्थानीय समुदायों को सुरक्षित भूमिगत पानी से वंचित कर दिया है)।

भूमिगत पानी का संकट खासतौर से चिंता का विषय है। खेती और औद्योगिक व शहरी जरूरतों के लिए इसका दोहन देश के बहुत सारे भागों में इतने ऊंचे स्तर पर पहुंच गया है कि जमीनी जलस्रोत बहुत तेजी से गिरते जा रहे हैं। ग्रामीण भारत में आधे से ज्यादा भूमिगत जलखंडों में पानी की भरपाई उतनी तेजी से नहीं हो पा रही है जितनी तेजी से पानी निकाला जा रहा है। संसद में पूछे गए एक सवाल के जवाब में सरकार ने बताया है कि देश के एक तिहाई जिलों में भूमिगत पानी पीने लायक नहीं है क्योंकि उसमें लोहा, फ्लोराइड, आर्सेनिक और खारापन बहुत ज्यादा है।

भारत में पानी का कुल प्रयोग (लगभग 750 अरब घन मीटर) अभी भी उपलब्ध मात्रा (लगभग 1869 अरब घन मीटर) से कम ही है लेकिन 2025 के बाद यह कभी भी उपलब्ध स्तर को पार कर जाएगा और 2050 तक बहुत ऊंचे स्तर पर जा पहुंचेगा। यह स्थिति तब है जब हम सिर्फ मानवीय प्रयोग की बात करें। अगर हम प्राकृतिक इलाकों और दूसरी अन्य प्रजातियों के लिए भी पानी के तमाम इस्तेमालों के बारे में सोचें तो दरअसल हम पहले ही संकट में फंस चुके हैं।

और अंत में आजीविका या रोजगार का संकट है। जैसे-जैसे प्रकृति का विखंडन और जल/जमीन का क्षरण तेज होता जाता है अथवा प्राकृतिक संसाधनों पर परंपरागत समुदायों की पहुंच घटती जाती है वैसे-वैसे वे समुदाय बेरोजगार होने लगते हैं जो पहले स्वरोजगारयुक्त (किसान, शिकारी-संग्राहक, मछुवारे, चरवाहे, दस्तकार आदि) हुआ करते थे। अभी तक ऐसे आजीविका और

रोजगारों का कितना नुकसान हुआ है, इस बारे में कोई व्यापक अनुमान उपलब्ध नहीं है। यह अपने आप में इस बात का संकेत है कि इस मुद्दे की कितनी अनदेखी होती रही है।

सबसे बुरा असर घुमंतू समुदायों पर पड़ा है। उनके मौसमी आवागमन के रास्ते अस्त-व्यस्त हो गए हैं, उनकी जीवन शैली व संस्कृतियां संकट में हैं या उनकी अवमानना हो रही है और नाना प्रभावों के चलते उनके अपने बच्चे उनसे छिटकते जा रहे हैं। राष्ट्रीय मानविकी सर्वेक्षण संस्थान (एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया) का अनुमान है कि भारत में कम से कम 276 गैर-चरवाहा घुमंतू व्यवसाय हैं (शिकारी-संग्राहक और बहलिये, मछुवारे, दस्तकार, बाजीगर और कथावाचक, ओझा, आध्यात्मिक व धार्मिक कलाकार, सौदागर आदि)। इनमें से ज्यादातर खतरे में हैं। कुछ पहले ही खत्म हो चुके हैं या खत्म होते जा रहे हैं और इन व्यवसायों से जो लोग विस्थापित हुए हैं वे या तो असंगठित क्षेत्र में असुरक्षित, अपमानजनक, कम आमदनी वाली और शोषण भरी नौकरियां करने लगे हैं या बेरोजगार हो गए हैं। देश के तकरीबन चार करोड़ चरवाहा घुमंतुओं में से ज्यादातर की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है।

क्या पर्यावरण का राष्ट्रीय नियोजन में समावेश किया गया है?

आइए अभी एक बार फिर मनमोहन सिंह की उसी दलील पर लौटें जिसका हमने पीछे जिक्र किया था। जो नष्ट हो चुका है (जैसे, लाखों हैक्टेयर प्राकृतिक वन जो बांधों में डूब चुके हैं या खनन तथा उद्योगों के लिए साफ कर दिए गए हैं) उसको बहाल किया जा सकता है या नहीं, इस बुनियादी मसले के अलावा ये सवाल भी पूछा जा सकता है कि वैश्वीकृत 'विकास' ने जो समस्याएं पैदा की हैं, क्या उनके अनुपात में पर्यावरण की हिफाजत के लिए उपलब्ध पैसे में भी इजाफा हुआ है या नहीं? क्या पर्यावरण हमारी नियोजन प्रक्रिया का एक केंद्रीय अंग बन पाया है?

पर्यावरण एवं वन मंत्रालय को केंद्र सरकार से मिलने वाला पैसा नब्बे के दशक की शुरुआत से लगातार बढ़ा है (1995-96 में 370 करोड़ रुपये और 2009-10⁴⁶ में 1500 करोड़ रुपये)। इसके बावजूद कुल बजट में इसका हिस्सा 1 प्रतिशत से काफी नीचे ही रहा है। बजट में उसका हिस्सा 2004-05 के बाद लगातार नीचे गिरता गया है और 2009-10 में तो ये 0.36 प्रतिशत था जो कि अभी तक कुल बजट का सबसे कम हिस्सा था। गौरतलब है कि इसी दौरान (1995-96 से 2009-10) कुल बजट पांच गुना बढ़ चुका है जबकि पर्यावरण एवं वन मंत्रालय का बजट सिर्फ चार गुना बढ़ा

है। बजट में गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोतों जैसे दूसरे संबंधित क्षेत्रों का हिस्सा भी कोई खास नहीं बढ़ाया गया है।

भारत सरकार द्वारा कराए जाने वाले सालाना आर्थिक सर्वेक्षण में अर्थव्यवस्था के मुख्य रुझानों की समीक्षा की जाती है और आने वाले साल की एक मोटा-मोटी तस्वीर पेश की जाती है। नब्बे की दशक की शुरुआत से ही सर्वेक्षण में पर्यावरण पर एक खंड रहा है लेकिन वास्तव में यह केवल एक महत्वहीन हिस्सा होता है। 200 पन्ने की रिपोर्ट में इसे महज एक या दो पन्ने नसीब होते हैं। यद्यपि इसमें भी जंगल, जमीन और पानी तथा प्रदूषण के सवाल पर दयनीय तस्वीर ही दिखाई देती है, लेकिन इसे साल के मुख्य आर्थिक घटनाक्रमों से जोड़ कर कभी नहीं देखा जाता है। उदाहरण के लिए, सर्वेक्षण के लेखक इस बात का विश्लेषण नहीं करते कि इन घटनाक्रमों का प्रभाव प्रकृति व पर्यावरण के लिए हानिकारक था या लाभदायक था। न ही भावी आर्थिक विकास के लिए पर्यावरणीय विखंडन के दुष्परिणामों की जांच की जाती है।

'टिकाऊ विकास' के लक्ष्यों की बार-बार होने वाली घोषणाओं के बावजूद ये आंकने के लिए कोई कसौटी या संकेतक नहीं है कि हम इस लक्ष्य की तरफ कितना आगे बढ़ पाए हैं?

क्या वैश्वीकरण से पर्यावरण को कतई लाभ नहीं हुआ है?

निश्चय ही वैश्वीकरण से कई पर्यावरणीय लाभ भी मिले हैं! पुनर्नीकरणीय ऊर्जा, प्रदूषण नियंत्रण व कुशलता के क्षेत्र में नई-नई तकनीकें सामने आई हैं; इलेक्ट्रॉनिक्स तथा संचार साधनों के प्रसार से सूचनाओं व विचारों का तेज आदान-प्रदान संभव हुआ है और बड़ी कंपनियां पर्यावरणीय दृष्टि से सुरक्षित तकनीकों के लिए ज्यादा संसाधन जुटा सकती हैं।

फिर भी इस आशय का कोई संकेत दिखाई नहीं देता कि वैश्वीकरण के ये लाभ इसके नुकसानों के बराबर हैं। अभी तक जो भी संकेत मिल रहे हैं - मात्रात्मक या गुणात्मक - वे सभी देश भर में बढ़ती पर्यावरणीय अस्थिरता और करोड़ों लोगों के लिए बढ़ती पर्यावरणीय असुरक्षा की ही कहानी कह रहे हैं। ज्यादा से ज्यादा ये माना जा सकता है कि नई तकनीकियां पर्यावरणीय ध्वंस को कुछ समय के लिए पीछे धकेल देंगी और हमें नए हालात की तरफ बढ़ने, एक बिल्कुल अलग तरह के समाज में पहुंचने के लिए थोड़ा ज्यादा समय मिल जाएगा। लेकिन इस तरह का समाज कैसा होगा? आर्थिक वैश्वीकरण का क्या विकल्प है?



भूमिका

अगर मानव समाज का असली उद्देश्य खुशहाली, आजादी और संपन्नता है तो धरती और अपने आप को खतरे में डाले बिना, आधी से ज्यादा मानवता को पीछे छोड़े बिना भी यह उद्देश्य हासिल किया जा सकता है। यह बात भारत के लिए भी उतनी ही सही है जितनी किसी और देश के लिए सही है हालांकि अलग-अलग जगह के पर्यावरणीय, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हालात के हिसाब से विकल्पों में बदलाव आते जाएंगे।

इंसानी खुशहाली व संपन्नता की वैकल्पिक रूपरेखा को मोटे तौर पर मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र (रेडिकल इकोलॉजिकल डेमोक्रेसी - रेड) कहा जा सकता है। मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र ऐसी सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक प्रक्रियाओं का समूह है जो पर्यावरणीय टिकाऊपन और मानव समानता के सिद्धांतों के आधार पर सभी नागरिकों को निर्णय प्रक्रिया में हिस्सा लेने का अधिकार व अवसर देंगी।

प्राकृतिक इलाकों और पर्यावरणीय प्रक्रियाओं की सतत एकबद्धता को पर्यावरणीय टिकाऊपन की संज्ञा दी जाती है जिसमें जैवविविधता को बनाए रखना जीवन का सबसे महत्वपूर्ण आधार

होता है। मानवीय समता वास्तव में अवसरों की समानता, सभी के लिए निर्णयकारी मंचों तक पूरी पहुंच (जिसमें विकेंद्रीकरण और सहभागिता के सिद्धांत शामिल हैं), मानव उद्यमों के लाभों के वितरण व प्रयोग में समानता (तमाम वर्गों, जातियों, आयु वर्गों, नस्ल और अन्य भेदों के परे) और सांस्कृतिक सुरक्षा का मिश्रण होती है।

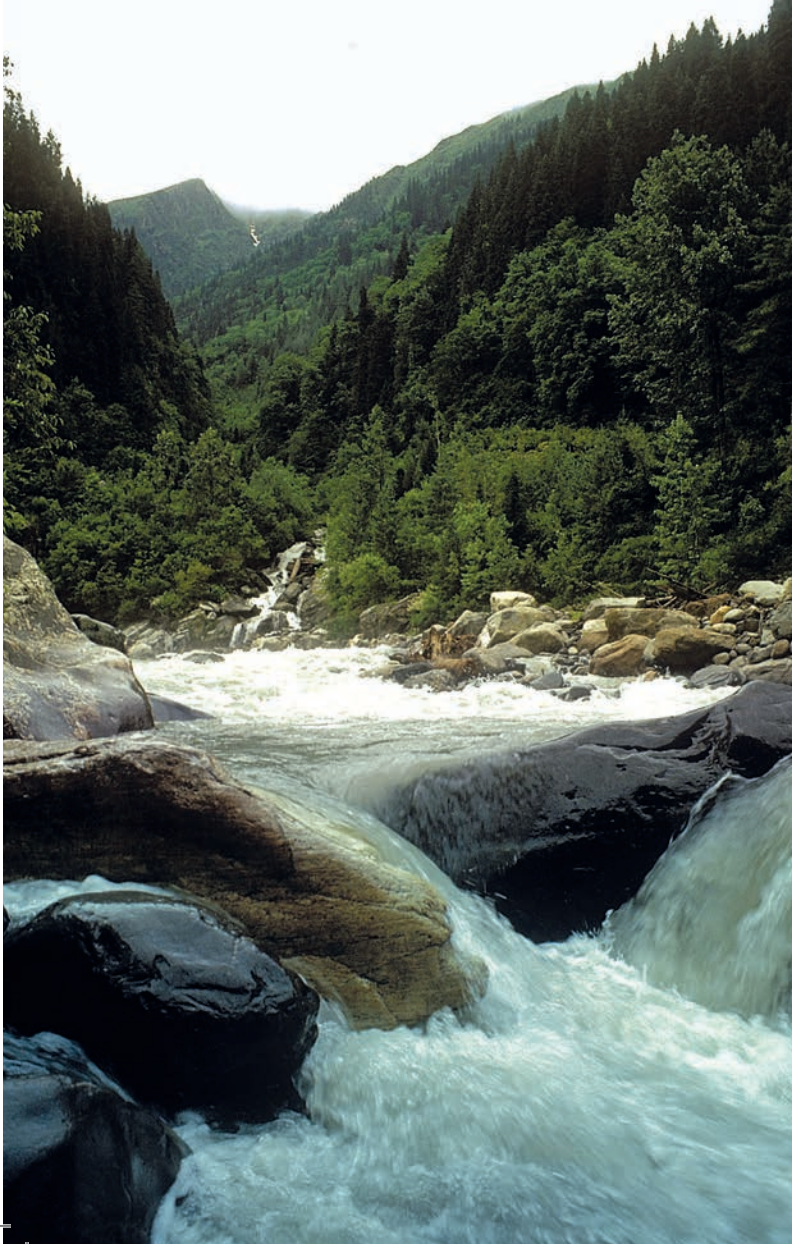
इससे जुड़े कुछ बुनियादी सिद्धांत या मूल्य ये हैं जिनका हमें सम्मान करना होगा : विविधता और बहुलता (वैश्वीकरण की समरूपवादी प्रवृत्तियों के विपरीत), परस्पर सहयोग और सामुदायिक क्षेत्रों व संसाधनों का साझा प्रबंधन (गलाकाट प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिवाद के विपरीत), स्पष्ट मानवाधिकार और सभी के लिए पर्यावरणीय दायित्व, श्रम का सम्मान (यानी केवल बौद्धिक कार्य को ही श्रेष्ठतर न माना जाए), सुख की चाह में गुणात्मक और मात्रात्मक, दोनों तरह के साधनों का मिश्रण (खालिस भौतिकवाद के विपरीत), मानव संबंधों तथा टकरावों से निपटने के परंपरागत तरीकों की बहाली, अहिंसा, 'गहन' लोकतंत्र जिसमें सभी के पास निर्णय प्रक्रिया में हिस्सा लेने का अधिकार व क्षमता हो तथा प्रकृति व गैर-मानवीय प्रजातियों के अधिकारों का आदर करना।

उपरोक्त और अन्य संभावित सिद्धांतों को मिलाकर रेड मनुष्यों व मानवता तथा शेष प्रकृति के बीच सतत और परस्पर सम्मानजनक संवाद का दर्शन है। इसे कोई एक रास्ता या ब्लूप्रिंट मानना भूल होगी बल्कि इसमें कई रास्ते शामिल होंगे। इनमें ऐसी व्यवस्थाएं शामिल हैं जिनको कभी मूल्यवान माना जाता था लेकिन अब पुरातन और 'आदिम' माना जाने लगा है। इनमें आजीविका स्तरीय अर्थव्यवस्थाएं, चीजों के लेने-देने की व्यवस्था, स्थानीय हाट-बाजार में होने वाले व्यापार, मौखिक ज्ञान, श्रम व मनबहलाव का मिश्रण, मशीन को मालिक की बजाय एक साधन के रूप में देखना, स्थानीय चिकित्सा परंपराएं, दस्तकारी, अभिभावकों और बड़े-बुजुर्गों के साथ काम करके सीखना, फिजूलखर्ची को बुरा मानना आदि सिद्धांत शामिल हैं। इसका मतलब परंपराओं को आंख मूंद कर मान लेना भी नहीं है। परंपरागत भारत में भी बहुत कुछ ऐसा है (जैसे कि जातिवाद व महिलाओं का शोषण) जिसको हमें अब हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए। वास्तव में मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र अतीत के साथ एक सुचिंतित संबंध की कल्पना है, ऐसे बहुत सारे मूल्यवान व्यवहारों की खोज का सिलसिला है जिनको अब भुला दिया गया है। ये उस तरह का पुनरुत्थानवाद भी नहीं है जिसकी भारत के दक्षिणपंथी हिंदू अहमन्यवादी बात करते हैं। हमें परंपराओं को उन लोगों के चंगुल से बचाना होगा जो उन्हें धर्मांध तरीके से इस्तेमाल कर रहे हैं।

स्थानीयकरण

स्थानीयकरण का रुझान वैश्वीकरण के विपरीत है। यह धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि जो लोग संसाधनों (जंगल, समुद्र, तट, खेत, शहरी सुविधाएं, आदि) के सबसे निकट रहते हैं उनकी ही उन संसाधनों पर सबसे ज्यादा दायेदारी भी होनी चाहिए; उन्हीं के पास उन संसाधनों के प्रबंधन का सबसे अच्छा ज्ञान होता है। बेशक, हमेशा ऐसा नहीं होता और भारत में बहुत सारे समुदाय सरकार के प्रभुत्व वाली नीतियों के कारण इन संसाधनों के प्रबंधन की क्षमता गंवा चुके हैं क्योंकि इन नीतियों ने लोगों की अपनी

हमें प्रकृति की अनमोल पर्यावरणीय उपयोगिता का आदर व संरक्षण करना चाहिए।



संस्थागत संरचनाओं, परंपरागत कायदे-कानूनों और दूसरी सामर्थ्यों को पंगु बना दिया है। फिर भी, अगर समुदायों को गैर-सरकारी संगठनों और सरकार की तरफ से संवेदनशीलता के साथ मदद मिले तो अनिवार्य उत्पादन, उपभोग, व्यापार, स्वास्थ्य, शिक्षा व अन्य सेवाओं के स्थानीयकरण की तरफ बढ़ा जा सकता है। जल संरक्षण, जैवविविधता संरक्षण, शिक्षा, अभिशासन, खाद्य एवं सामग्री उत्पादन, ऊर्जा उत्पादन, कचरा प्रबंधन और अन्य क्षेत्रों में विकेंद्रीकृत स्तर पर भारत में हजारों अभिनव प्रयोग चल रहे हैं। ये प्रयास गांव और शहर, दोनों जगह देखे जा सकते हैं। भारतीय संविधान में किए गए 73वें और 74वें संविधान संशोधन (ग्रामीण एवं शहरी समुदायों के पक्ष में शक्तियों का विकेंद्रीकरण) को तार्किक परिणिति तक ले जाया जाए तो वास्तव में इसका आशय स्थानीयकरण से ही है। इसके कुछ सजीव उदाहरण ये हो सकते हैं :

- डेकन डेवलेपमेंट सोसायटी की दलित महिला किसानों, ग्रीन फाउंडेशन के साथ काम कर रहे समुदायों, बीज बचाओ आंदोलन से जुड़े किसानों और नवदान्या के जैवपंचायत नेटवर्क ने फसलों की विविधता का रास्ता अपना कर टिकाऊ खेती का उदाहरण प्रस्तुत किया है।
- उड़ीसा, महाराष्ट्र, उत्तराखंड, नागालैंड और अन्य प्रदेशों में जंगलों, तालाबों-नदियों, घास के मैदानों और तटीय/समुद्री क्षेत्रों तथा वन्य जीव आबादियों व प्रजातियों के संरक्षण व प्रजनन/पुनर्जीवन के लिए हजारों समुदाय आधारित प्रयास चल रहे हैं।
- नागालैंड सरकार ने शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली और अन्य आयामों के 'सामुदायीकरण' (अधिक स्थानीय नियंत्रण) के सफल प्रयोग किए हैं।
- सैकड़ों गांव निर्जल, सूखे की आशंका वाले क्षेत्रों में जल आत्मनिर्भरता का सफल प्रयोग कर चुके हैं। इसके लिए उन्होंने पानी के विकेंद्रीकृत संरक्षण और उसके प्रयोग के लिए सख्त स्वनियमन का रास्ता अपनाया है। तरुण भारत संघ द्वारा राजस्थान के अलवर जिले में किया गया ऐसा एक प्रयोग उल्लेखनीय है।
- अपनी सारी जरूरतों के लिए परजीवियों की तरह गांवों पर शहरों की निर्भरता के शास्त्रीय मॉडल से दूर जाने का उदाहरण भुज (कच्छ, गुजरात) में देखा जा सकता है। हुनरशाला, सहजीवन, कच्छ महिला विकास संगठन और एसीटी जैसी संस्थाओं ने मिलकर झुग्गीवासियों, महिला मंडलों और अन्य नागरिकों को संगठित करके जलागम क्षेत्रों को पुनर्जीवित करने और एक विकेंद्रीकृत जल भंडारण व प्रबंधन व्यवस्था बनाने का प्रयास किया है। ये संगठन ठोस कचरे के निस्तारण, गरीब महिलाओं के लिए रोजगारों, पर्याप्त स्वच्छता और सबके लिए सम्मानजनक आवास सुविधाओं का बंदोबस्त करते हैं। यहां के अलावा बेंगलूरु, पुणे व अन्य शहरों में भी बहुत सारे नागरिक विकेंद्रीकृत, स्थानीय नियोजन के लिए 74वें संविधान संशोधन की मदद ले रहे हैं।
- स्थानीयकरण की सफलता के लिए ये जरूरी है कि हम जाति व्यवस्था, अंतर्धार्मिक प्रक्रियाओं और नर-नारी (जेंडर) संबंधों में छिपे सामाजिक-आर्थिक शोषण को भी संबोधित करें। इस तरह की असमानताओं को निश्चय ही दूर किया

जा सकता है - यह बात आंध्र प्रदेश में डेक्कन डेवलेपमेंट सोसायटी की गतिविधियों के जरिए दलित महिलाओं को मिल रहे आदर व गौरव, तमिलनाडु के कुथम्बक्कम गांव में दलितों व 'ऊंची' जातियों के बीच पहले से ज्यादा समानता तथा नर्मदा बचाओ आंदोलन की जीवनशालाओं में आदिवासी बच्चों के सशक्तिकरण के अनुभवों से समझा जा सकता है। वैसे भी, इस आशय के बहुत ज्यादा साक्ष्य नहीं हैं कि वैश्वीकरण ने जाति, धर्म और नर-नारी आधारित शोषण पर कोई उल्लेखनीय अंकुश लगाया है और न ही इस आशय के साक्ष्य उपलब्ध हैं कि इसने नए किस्म की असमानताओं को जन्म नहीं दिया है।

भूक्षेत्र स्तर पर काम करना

स्थानीय और छोटे स्तर पर काम करना ही पर्याप्त नहीं होगा। हम अभी जिन समस्याओं से जूझ रहे हैं उनमें से बहुत सारी बहुत व्यापक पैमाने की समस्याएं हैं। ये ऐसी समस्याएं हैं जो विशाल भू-क्षेत्रों (और समुद्रों), देशों, क्षेत्रों और वस्तुतः पूरी पृथ्वी पर फैली हुई हैं। वायुमंडलीय परिवर्तन, विषैले पदार्थों का फैलाव और रेगिस्तानों का फैलाव इसी तरह के उदाहरण हैं। भूक्षेत्र और सीमापारीय नियोजन व अभिशासन (जिसे 'जैवक्षेत्रवाद' या 'पर्यावरणीय क्षेत्रवाद' आदि नाम भी दिए गए हैं) जैसी दिलचस्प नई पद्धतियों को कई देशों और क्षेत्रों में आजमाया जा रहा है। अभी भारत में ये कोशिशें अपनी शैशव अवस्था में हैं लेकिन इनमें से कुछ से निश्चय ही हम सबक सीख सकते हैं। राजस्थान में स्थित अरवरी संसद में राज्य के 72 गांवों के लोग मिल कर 400 किलोमीटर में फैली नदी तलहटी की सार-संभाल का जिम्मा उठाए हुए हैं। वे भूमि, कृषि, जल, वन्य जीवन और विकास के लिए समेकित योजनाएं व कार्यक्रम तैयार करते हैं। महाराष्ट्र में वॉटर यूजर्स एसोसिएशन की एक फेडरेशन को वाघाड सिंचाई परियोजना के प्रबंधन का काम सौंपा गया है। ये पहला उदाहरण है जब कोई सरकारी परियोजना पूरी तरह स्थानीय जनता को सौंप दी गई है।

विकेंद्रीकृत एवं भूक्षेत्र स्तरीय अभिशासन व प्रबंधन से आगे बढ़ते हुए ये कहा जा सकता है कि प्रत्येक जैव क्षेत्र, प्रांत और देश के लिए भी भूमि प्रयोग की एक तार्किक पद्धति हो सकती है। इस तरह की योजना पर्यावरणीय एवं सामाजिक दृष्टि से देश की सबसे नाजुक या महत्वपूर्ण जमीनों को हमेशा के लिए किसी न किसी किस्म की संरक्षित श्रेणी में रख देगी (यह पूरी तरह सहभागी योजना होगी और उसमें



लोगों के अधिकारों का ध्यान रखा जाएगा)। इस तरह की योजना शहरों और कस्बों को भी जल संरक्षण, छतों और खाली प्लॉट्स में खेती, विकेंद्रीकृत ऊर्जा उत्पादन आदि के जरिए अधिकतम संभव हद तक संसाधन जुटाने के लिए प्रोत्साहित करेगी, और इस तरह गांवों के साथ उनका संबंध केवल परजीवी वाला न रहकर परस्पर लाभ का संबंध बन जाएगा। ग्रामीण समुदायों के संसाधनों का क्या होता है, इसमें उनकी राय जितनी महत्वपूर्ण होगी और अपनी जीवन शैली के बारे में शहरवासियों के भीतर जितनी ज्यादा जागरूकता होगी, परस्पर सहभागिता के संबंध उतने ही गहरे होंगे।

कुल मिलाकर, जैसे-जैसे स्थानीय स्तर पर अनुकूल प्रयासों के जरिए गांव पुनर्जीवित होते जाएंगे, वैसे-वैसे गांवों से शहरों की तरफ पलायन भी धीमा हो जाएगा और संभव है कि इसकी दिशा उलट जाए। महाराष्ट्र के रालेगांव सिद्धी और हीवरे बाजार में तथा मध्य प्रदेश के देवास जिले में ऐसा हो चुका है। देवास में समाज प्रगति सहयोग नामक संस्था यही काम कर रही है। झारखंड में जहां झारकाफ्ट संस्था सक्रिय है वहां भी कई गांवों में यह स्थिति बनी है।

स्थानीय से राष्ट्रीय अभिशासन की ओर

मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र की धारणा में लोकतांत्रिक अभिशासन की प्रक्रिया सबसे लघु, सबसे स्थानीय इकाई से शुरू होती है। भारत के संविधान में गांव और ग्राम समूहों के स्तर पर तथा शहरों में वार्ड समितियों के स्तर पर पंचायतों के जरिए अभिशासन की व्यवस्था की गई है। परंतु ये प्रातिनिधिक निकाय भी उन्हीं खामियों से ग्रस्त हैं जिनसे ऊपरी स्तर का प्रातिनिधिक लोकतंत्र ग्रस्त है। इनसे बचने के लिए हमें ग्राम सभा और शहरों में क्षेत्र सभा (वाइर्स के भीतर लघुतर इकाइयों) का सशक्तिकरण करना होगा ताकि किसी टोले/गांव अथवा शहरी बस्ती के सभी वयस्क निर्णय प्रक्रिया में सहज ढंग से हिस्सा ले सकें। स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों या पर्यावरणीय मुद्दों से संबंधित सभी महत्वपूर्ण फैसले इसी स्तर पर लिए जाने चाहिए और इस बात का विशेष प्रावधान किया जाना चाहिए कि निर्णय प्रक्रिया में महिलाओं व अन्य वंचित तबकों की भी पूरी सहभागिता सुनिश्चित की जाएगी।

इसके उदाहरण पहले ही हमारे सामने मौजूद हैं :

- मेंढा-लेखा (महाराष्ट्र) के गोंड आदिवासी गांवों ने 'मुंबई दिल्ली में हमारी सरकार, अपने गांव में हम सरकार' का सिद्धांत अपनाया है। इस गांव में सारे फैसले गांव की पूरी सभा के सामने गांव के ही अन्य अभ्यास गुट के आधार पर जुटायी गई जानकारीयों सहारे सबकी सहमति से लिए जाते हैं। पिछले

तीन दशकों के दौरान भोजन, पानी, ऊर्जा और स्थानीय आजीविका संबंधी सारी बुनियादी जरूरतों को यह गांव खुद पूरा करने के सफल प्रयास में लगा है। इस गांव के लोगों ने 1800 हैक्टेयर वन भूमि का भी संरक्षण करके दिखा दिया है जिस पर अब उनको पूरा कानूनी अधिकार भी मिल गया है।

- उपरोक्त ग्रामीण उदाहरणों के अलावा कुछ शहर भी सहभागी बजटिंग की दिशा में बढ़ने लगे हैं जहां नागरिक ही सरकारी बजट को प्रभावित करने के लिए व्यय संबंधी प्राथमिकताएं शासन के पास भेजते हैं।

बड़े स्तर की अभिशासन संरचनाएं मूलतः इन्हीं बुनियादी इकाइयों से विकसित होनी चाहिए। इनमें समान पर्यावरणीय विशिष्टताओं वाले ग्राम समूह या ग्राम संघ, भूक्षेत्र स्तरीय संस्थान और ऐसी अन्य संस्थाएं बनायी जा सकती हैं जो किसी न किसी रूप में जिले और राज्य की मौजूदा प्रशासकीय व राजनीतिक इकाइयों से भी संबद्ध हों। राज्यों और देशों का अभिशासन एक ज्यादा बड़ी चुनौती जरूर है लेकिन विफल हो चुके या आंशिक रूप से सफल नदी-तलहटी प्राधिकरणों जैसे प्रयोगों से बहुत सारे सबक सीखे जा सकते हैं।

सार्थक शिक्षा एवं स्वास्थ्य

मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र के लिए सबसे प्रासंगिक ज्ञान वह होगा जो पश्चिमी ढंग की शिक्षा तथा उसके फलस्वरूप 'भौतिक', 'प्राकृतिक' एवं 'सामाजिक' विज्ञानों के बीच और इन विज्ञानों तथा 'कलाओं' के बीच पैदा कर दी गई कृत्रिम सीमाओं को खारिज करता है। पर्यावरणीय या मानव समाज की प्रणालियां इस तरह के साफ-सुथरे बक्सों से नहीं बनती। भूक्षेत्र में जंगल और रिहाइश के बीच, प्राकृतिक और इंसानी परिधि के बीच कोई स्पष्ट सीमा नहीं होती। ज्ञान को समावेशी ढंग से सीखने, सिखाने और उसका संचार करने में हम जितना ज्यादा योगदान देंगे, जितना हम विशेषज्ञों के साथ-साथ आम लोगों को भी सम्मान देंगे, उतना ही ज्यादा हम प्रकृति और उसमें अपने स्थान को ज्यादा अच्छी तरह समझ पाएंगे। बहुत सारे वैकल्पिक शिक्षा एवं सीख के प्रयोग इसी दिशा में बढ़ रहे हैं : आंध्र प्रदेश में सक्रिय डेक्कन डेवलपमेंट सोसायटी के पाचासाले जैसे स्कूल और नर्मदा घाटी व उसके निवासियों को महाकाय बांधों से बचाने के लिए जूझ रहे नर्मदा बचाओ आंदोलन के जीवनशाला स्कूल, तेजगढ़, गुजरात स्थित आदिवासी अकादमी जैसे कॉलेज, देहरादून, उत्तराखंड स्थित बीज विद्यापीठ व उदयपुर के स्वराज विश्वविद्यालय जैसे मुक्त शिक्षा संस्थान आदि इसी तरह के उदाहरण हैं।

इसी प्रकार कई संगठन लोक स्वास्थ्य प्रणालियों पर भी काम कर रहे हैं। वे समुदायों को अपनी स्वास्थ्य समस्याओं से जूझने के लिए उनका सशक्तिकरण करते हैं। वे परंपरागत और आधुनिक व्यवस्थाओं को एक दूसरे से जोड़ कर और सुरक्षित भोजन व पानी, पोषण, रोधक स्वास्थ्य उपायों और उपचारक कार्यक्रमों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास कर रहे हैं।

रोजगार और आजीविका

स्थानीयकरण और भूक्षेत्र नियोजन का मिश्रण आजीविका अवसरों की भी जबर्दस्त संभावनाएं पैदा करता है। इस प्रकार, यह पद्धति भारत की एक बहुत बड़ी समस्या यानी बेरोजगारी को दूर करने का भी साधन बन सकती है। भूमि एवं जल पुनर्नवीकरण, तथा

उत्तर कन्नड़ा में घरेलू बगीचों को पुनर्जीवित करने में पथप्रदर्शक भूमिका निभाने वाली स्वर्गीय सावित्री अम्मा।



इसके फलस्वरूप उपज में इजाफे से रोजगार के विशाल स्रोत पैदा हो सकते हैं और टिकाऊ आजीविकाओं के लिए स्थायी संपदाएं रची जा सकती हैं। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (नरेगा) तथा जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी पुनर्नवीकरण मिशन (जेएनएनयूआरएम) को पर्यावरण-रोजगार के इस समन्वय की दिशा में मोड़ा जा सकता है। नई 'ग्रीन जॉब' डील में श्रम-सघन ग्रामीण उद्योगों व बुनियादी ढांचे, हथकरघे और दस्तकारी, स्थानीय ऊर्जा परियोजनाओं, ग्रामीण सड़कों और ऐसे दूसरे विकल्पों पर भी नए सिरे से जोर देना होगा जिनको लोग अपने नियंत्रण में रख सकें, जिन्हें वे अपने परंपरागत ज्ञान या आसानी से सीखे जा सकने वाले नए कौशलों के सहारे लोग खुद चला सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का अनुमान है कि मानवोचित श्रम के रूप में परिभाषित ऐसे 'हरित रोजगारों' में आजीविका के भारी अवसर हैं जो मौजूदा पर्यावरणीय संकट से निपटने में मदद देंगे। उदाहरण के लिए, जैविक, छोटे पैमाने की खेती परंपरागत रसायन आधारित खेती के मुकाबले ज्यादा लोगों को काम दे सकती है। पुनर्नवीकरणीय ऊर्जा उत्पादन और ऊर्जा कुशलता जो अभी अपने शैशव चरण में है, वह लाखों लोगों को रोजगार दे सकती है। खेती और ऊर्जा (उत्पादन व कुशलता) तथा परिवहन, ऊर्जा कुशल निर्माण, विकेंद्रीकृत उद्योग, रीसाइक्लिंग (इस्तेमाल हो चुकी चीजों को फिर से इस्तेमाल योग्य वस्तुओं में रूपांतरित करने की प्रक्रिया), वानिकी व अन्य कई क्षेत्रों में भी हमारे सामने अभूतपूर्व संभावनाएं मौजूद हैं। फिर भी, इस संभावना का आकलन करने के लिए अभी तक कोई समग्र अध्ययन नहीं किया गया है।

आर्थिक लोकतंत्र

मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र के लिए हमें न केवल राजनीतिक अभिशासन में बल्कि उत्पादन व उपभोग के आर्थिक संबंधों में भी आमूल बदलाव लाने होंगे। वैश्विक अर्थव्यवस्थाएं उपभोग का लोकतांत्रिकरण तो करती हैं लेकिन उत्पादन का लोकतांत्रिकरण नहीं करती (वैसे तो ये भी सिर्फ कहने वाली ही बात है कि उपभोक्ता ही 'परमेश्वर' है क्योंकि बहुधा उपभोक्ताओं के सामने चुनाव का सिर्फ एक भ्रम मात्र रहता है)। ऐसा केवल तभी हो सकता है जब विकेंद्रीकृत उत्पादन सुनिश्चित किया जाए जो उपभोक्ताओं व उत्पादकों के नियंत्रण में हो।

गांव आधारित या कुटीर उद्योगों, लघु एवं विकेंद्रीकृत उद्योगों का गांधीवादी प्रस्ताव दशकों से हमारे सामने रहा है। इस तरह का उद्योग सबसे पहले और सर्वोपरि स्थानीय आवश्यकताओं और उसके पश्चात राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति पर केंद्रित होगा। यह एक स्थानीय अर्थव्यवस्था का अंग होगा जिसमें उत्पादक-उपभोक्ता संबंध मुख्य रूप से स्थानीय होंगे इसलिए उस तरह के उत्पादन तथा मौजूदा पूंजीवादी उत्पादन के बीच सबसे बुनियादी फर्क ये होगा कि वह अपने तथा औरों के लिए होगा, मूल रूप से लाभ के लिए नहीं बल्कि एक सेवा के रूप में होगा।

इस तरह के आर्थिक लोकतंत्र में ग्राम समूह या गांवों व शहरों के समूह प्रारंभिक इकाई होंगे। उदाहरण के लिए :

- तमिलनाडु में कुथम्बक्कम गांव के सरपंच रामास्वामी इल्लेगो 7-8 गांवों को मिला कर एक 'मुक्त व्यापार क्षेत्र' बनाने का

प्रयास कर रहे हैं। इस 'मुक्त व्यापार क्षेत्र' में ये गांव एक-दूसरे के साथ वस्तुओं व सेवाओं का (परस्पर लाभ के लिए) व्यापार करेंगे जिससे बाहरी व्यापार और शासन पर उनकी निर्भरता को कम किया जा सके। इस तरह, इन गांवों का पैसा स्थानीय विकास में पुनः निवेश के लिए इन्हीं गांवों में रहेगा और उनके आपसी संबंध भी मजबूत होंगे।

- गुजरात में भाषा नामक संगठन दर्जनों जनजातीय गांवों को लेकर एक हरित आर्थिक क्षेत्र बनाने के लिए प्रयास कर रहा है। यह हरित आर्थिक क्षेत्र टिकाऊपन, पर्यावरणीय संवेदनशीलता की अवधारणाओं तथा लोगों की सांस्कृतिक जड़ों के प्रति सम्मान की भावना पर आधारित होगा।
- मध्य प्रदेश में नोगाँग कृषि उत्पादक कंपनी लिमिटेड (एनएपीसीएल) तथा तमिलनाडु में आहारम परंपरागत फसल उत्पादक कंपनी (एटीसीपीसी) किसानों द्वारा चलाई जा रही ऐसी कंपनियां हैं जो उत्पादकों को सीधे अपने बाजार से जोड़ती हैं।

पैसा तो विनिमय का एक महत्वपूर्ण माध्यम बना रहेगा लेकिन यह अज्ञात अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की बजाय स्थानीय नियंत्रण व प्रबंधन के भीतर होगा और आपस में जुड़े वित्तीय बाजारों के जरिए काम करने वाली वैश्विक पूंजी की अमूर्त शक्तियां इसको नियंत्रित नहीं कर पाएंगी। काफी सारा स्थानीय व्यापार स्थानीय मुद्राओं या वस्तु-विनिमय की व्यवस्था के तहत होने लगेगा और भले ही उत्पादों व सेवाओं का मूल्य पैसे में व्यक्त होता रहे, वह एक निर्व्यक्तिक, नियंत्रणमुक्त बाहरी बाजार की बजाय स्वयं देने और लेने वालों के द्वारा निर्धारित होगा। दुनिया भर में न केवल असंख्य प्रकार की स्थानीय मुद्राएं मौजूद हैं बल्कि व्यापार व सेवाओं के आदान-प्रदान के गैर-मौद्रिक तरीके भी मौजूद हैं।

वित्तीय प्रबंधन का भी गहरे तौर पर विकेंद्रीकरण करना होगा। इसे आज के बैंकों एवं वित्तीय संस्थानों के महासंकेंद्रण से मुक्त कराना होगा। वैश्विक संस्थानों और उनकी सट्टेबाजी प्रवृत्तियों को मिली खुली छूट ही ताजा आर्थिक संकट की जड़ है। लेकिन इसके साथ ही दुनिया भर में पिछले कुछ दशकों के दौरान असंख्य स्थानीय, समुदाय आधारित बैंकिंग एवं वित्तीय व्यवस्थाएं भी पैदा हुई हैं।

सरकार की भूमिका

इन वैकल्पिक भविष्यों का मूल आधार तो समुदाय (ग्रामीण और शहरी) ही होंगे लेकिन सरकार को कमजोर (मानवीय और गैर-



पाचासाले, डेक्कन डेवलेपमेंट सोसायटी का वैकल्पिक स्कूल।

मानवीय, दोनों) तबकों के हित में अपनी कल्याणकारी भूमिका को बरकरार रखना होगा या और बढ़ाना होगा, कम से कम कुछ समय के लिए। सरकार समुदायों को उन परिस्थितियों में सहायता देगी जहां स्थानीय क्षमता कम है, जैसे संसाधन जुटाने में, अधिकार प्रदान करने में और स्वामित्व सुरक्षा सुनिश्चित करने में। सरकार ऐसे व्यावसायिक तत्वों या अन्य स्वार्थों पर अंकुश लगाएगी जो पर्यावरण या लोगों के प्रति गैर-जिम्मेदाराना ढंग से व्यवहार कर रहे हैं। उसे संविधान के तहत प्रत्येक नागरिक को मिले विभिन्न मूल अधिकारों के रक्षक की भूमिका अपनानी होगी और इसके लिए सूचना अधिकार कानून जैसे उचित नीतिगत उपाय भी करने होंगे। और अंत में, उसे समाजों और राष्ट्रों के व्यापक वैश्विक संबंधों में अपनी भूमिका भी कायम रखनी होगी (जब तक राष्ट्र रहेंगे)।

वैश्विक संबंध

आर्थिक वैश्वीकरण की प्रक्रिया के उलटने का मतलब वैश्विक संबंधों की समाप्ति नहीं है! विचारों, व्यक्तियों, सेवाओं और वस्तुओं का दुनिया भर में प्रवाह हमेशा जारी रहा है और इसने अकसर मानव समाजों को समृद्धि दी है। वित्त और पूंजी की बजाय स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं और सामुदायिक जीवन शैलियों को केंद्र में लेकर चलने वाली मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र की अवधारणा वास्तव में वैश्विक स्तर पर विचारों व अभिनव प्रयोगों के प्रवाह को ज्यादा सार्थक बनाएगी।

भारत को साझा पर्यावरणीय, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों के आधार पर पड़ोसी देशों के साथ भी बेहतर संबंध बनाने होंगे। सीमापारीय भूक्षेत्र व समुद्र-क्षेत्र प्रबंधन इसका एक उदाहरण है। जिन क्षेत्रों में अभी बहुत तीखा टकराव है (जैसे, भारत और पाकिस्तान के बीच स्थित सियाचिन ग्लेशियर) वहां संसाधनों के संरक्षण के लिए 'शांति क्षेत्र' बनाए जा सकते हैं। वैश्विक धरातल पर शांति, अधिकारों और पर्यावरण के सवाल पर विभिन्न संघियों को मजबूती देना एक मुख्य कदम होना चाहिए।

क्या इस तरह का रूपांतरण संभव है?

मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र के फलस्वरूप अभिशासन में भारी बदलाव आएंगे और आज के राजनीतिक व व्यावसायिक सत्ता केंद्र इसका विरोध करने में कोई कसर नहीं छोड़ेंगे। लेकिन भारत में ऐसे बहुत सारे लक्षण गिनाए जा सकते हैं जिनको देख कर लगता है कि अगले कुछ दशकों के दौरान ऐसा रूपांतरण लाया जा सकता है :

1. आर्थिक विकास के स्थापित मॉडल के विभिन्न आयामों के विरुद्ध गैर-सरकारी संगठनों की गोलबंदी बढ़ती जा रही है। विनाशकारी विकास परियोजनाओं के खिलाफ चल रहे जनआंदोलनों, खासतौर से विस्थापन अथवा पर्यावरण विनाश के कारण सबसे ज्यादा प्रभावित समुदायों द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों में भारी बढ़ोतरी हुई है। इन्हें शहरी इलाकों में सक्रिय नागर समाज संगठनों से भी मदद मिल रही है।



2. गैर-सरकारी समाज मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में मदद देगा : बहुत सारे मौकों पर सरकार की बार-बार विफलताओं से समुदाय आधारित संगठनों या गैर-सरकारी संगठनों को बुनियादी सुविधाओं व सहूलियतों का जिम्मा लेने और स्थानीय सशक्तिकरण में योगदान देने का मौका मिला है जिसे इस लेख में आए उदाहरणों से समझा जा सकता है।
3. नीतिगत बदलाव व सुधार : गैर-सरकारी संगठनों द्वारा की गई एडवोकेसी और स्वयं राज्य तंत्र में मौजूद प्रगतिशील व्यक्तियों द्वारा की गई गतिविधियों से नीतियों में ऐसे कई बदलाव और सुधार आए हैं जो आर्थिक उदारीकरण के सामान्य रुझान के विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। सूचना अधिकार कानून 2005, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून 2006, तथा अनुसूचित जनजाति एवं अन्य परंपरागत वनवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006 इस तरह के तीन महत्वपूर्ण ताजा उदाहरण हैं। इन तीनों की शुरुआत लोगों की पहलकदमियों से हुई है। आरटीआई कानून राजस्थान, दिल्ली और अन्य क्षेत्रों में मजदूर किसान शक्ति संगठन (एमकेएसएस) जैसे संगठनों के नेतृत्व में रोजगार व परियोजनाओं के सरकारी रिकॉर्ड हासिल करने के लिए चलाए गए स्थानीय संघर्षों से पैदा हुआ था।
4. प्रौद्योगिकीय परिवर्तन : बहुत सारे तकनीकी आविष्कार न केवल मानव जीवन को आसान बना रहे हैं बल्कि पारिस्थितिकी तंत्र के लिए भी संवेदनशील हैं। औद्योगिक व कृषि उत्पादन, ऊर्जा, आवास व निर्माण, परिवहन, घरेलू उपकरण आदि बहुत सारी तकनीकियां पहले से ज्यादा पर्यावरण अनुकूल हैं। बहुत सारी परंपरागत प्रौद्योगिकियों को बहाल करने या जारी रखने के पक्ष में भी एक जनमत बनता जा रहा है। उदाहरण के लिए, कृषि, कपड़ा एवं अन्य मेन्यूफैक्चरिंग क्षेत्रों आदि में लोग परंपरागत पद्धतियों के महत्व पर जोर देने लगे हैं। 'विकासशील' देशों के पास बेहद अपव्ययी औद्योगिक ऊर्जा एवं परिवहन प्रौद्योगिकियों से सीधे सुपरकुशल प्रौद्योगिकियों के युग में छलांग लगाने का एक अभूतपूर्व अवसर है - बशर्ते औद्योगिक देश उन्हें ऐसा करने से न रोकें।
5. वित्तीय उपाय : आर्थिक एवं राजकोषीय नीतियों में बदलावों से ज्यादा टिकाऊपन की तरफ बढ़ने में मदद मिल सकती

है। बहुत सारे गैर-सरकारी संगठनों की पुरजोर मांग है कि सरकारी रियायतें रसायन सघन खेती जैसे विनाशकारी व्यवहारों की बजाय जैविक खेती जैसे टिकाऊ विकल्पों को मिलनी चाहिए। शहरी और औद्योगिक उपभोक्ताओं द्वारा प्रयोग किए जा रहे प्राकृतिक संसाधनों के वास्तविक मूल्य को इंगित करने वाले कर/टैक्स लागू किए जाएं तो उपभोक्तावाद जैसी पर्यावरण-विनाशी परिघटनाओं को हतोत्साहित किया जा सकता है, आय असमानता पर अंकुश लगाया जा सकता है और पर्यावरण की रक्षा की जा सकती है।

6. जागरूकता, शिक्षा, क्षमता : पर्यावरणीय एवं सामाजिक जागरूकता तथा संबंधित समस्याओं से जूझने की क्षमताओं में पिछले दो-तीन दशकों के दौरान भारी इजाफा हुआ है। इसके बावजूद, निर्णयकारों और व्यवसाय जगत के शिखर पर बैठे लोगों के पास यह जागरूकता बहुत कम है। मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र की ओर संक्रमण के लिए विशाल अभियान चलाना होगा ताकि असंख्य संकटों और उनके कारणों के बारे में जागरूकता फैलाई जा सके और उनके सार्थक समाधानों के प्रसार की क्षमता पैदा की जा सके।

भारत मूलभूत पर्यावरणीय लोकतंत्र की ओर बढ़ने के लिए सबसे अनुकूल स्थिति में है। इसके कई कारण हैं : भारत का हजारों साल लंबा इतिहास व अनुकूलन की क्षमता (जिनमें प्राचीन लोकतांत्रिक आचार भी शामिल हैं जो संभवतः विख्यात ग्रीक रिपब्लिक से भी ज्यादा पुराने हैं), इसकी पर्यावरणीय एवं सांस्कृतिक विविधता, विविध संकटों के सामने इसका लचीलापन, नाना जीवन शैलियों व विश्व दृष्टिकोणों का बचे रहना जिनमें ऐसे प्रकृति-आश्रित समुदाय भी हैं जो आज भी धरती को बहुत कोमल हाथों से छूते हैं, बुद्ध, गांधी, टैगोर, आंबेडकर और दूसरे प्रगतिशील चिंतकों की शक्तिशाली विरासत, मार्क्स आदि अन्य चिंतकों के क्रांतिकारी विचारों का प्रयोग, लोकतंत्र व गैर-सरकारी संगठनों सक्रियता की प्रतिबद्धता और प्रतिरोध व पुनर्निर्माण के असंख्य जनांदोलन इसकी थाती और विशेषता हैं। लेकिन ये भी सच है कि भारत अकेले इस लक्ष्य को हासिल नहीं कर सकता। उसे दूसरे देशों व समुदायों को भी समझाना, उनको बताना और उनसे सीखना होगा। ...और यह काम भी हम सदियों से बड़ी सफलतापूर्वक करते आ रहे हैं। अब हमें यही काम एक बिल्कुल नए और कहीं ज्यादा कठिन माहौल में संपन्न करना है।

नर्मदा बांध प्रभावित लोगों की रैली, बड़वानी, मध्य प्रदेश।

प्राकृतिक संसाधन अधिकारों पर गांव में हो रही चर्चा, उड़ीसा।



- इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड, नई दिल्ली, 2009 <http://indiabudget.nic.in/es2008-09/chapt2009/chap11.pdf>; इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, <http://www.indiabudget.nic.in/es2011-12/echap-01.pdf>, इंडिया फोर्थ क्वार्टर जीडीपी ग्रो ज़ एट 5.3%; 6.5: फॉर एफवाई 12, दि टाइम्स ऑफ इंडिया, ३१ मई २०१२, <http://timesofindia.indiatimes.com/business/india-business/Indias-fourth-quarter-GDP-grows-at-5-3-6-5-for-FY-12/articleshow/13683804.cms>. कुछ अर्थशास्त्रियों ने नब्बे के दशक के मध्य से वृद्धि दर के बारे में सरकार द्वारा जारी किए गए अनुमानों पर सवाल उठाए हैं। इनमें सरकार के पुराने सलाहकार शंकर आचार्य जैसे लोग भी शामिल हैं। देखें <http://www.hindustan-times.com/StoryPage/Print/455513.aspx>
- यहां जो संख्याएं प्रस्तुत की गई हैं वे इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड, नई दिल्ली, 2010 पर आधारित हैं, <http://indiabudget.nic.in/es2009-10/chapt2010/tab132.pdf>
- http://www.fundoodata.com/mnc_companies.php
- इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड, नई दिल्ली, 2009, <http://indiabudget.nic.in/es2008-09/chapt2009/chap610.pdf>, विदेशी मुद्रा भंडार संबंधी आंकड़े भारतीय रिजर्व बैंक, <http://www.rbi.org.in/scripts/WSSView.aspx?Id=15032> से तथा 'इंडियाज फॉरेस्ट रिजर्व फॉल्स टू 286.75 बिलियन डॉलर - <http://in.reuters.com/article/2012/07/20/india-reserves-idIN8E8H102720120720> से लिए गए हैं।
- इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड, नई दिल्ली, 2009, <http://indiabudget.nic.in/es2008-09/chapt2009/chap610.pdf>; इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड, नई दिल्ली, 2012, <http://www.indiabudget.nic.in/es2011-12/echap-01.pdf>, विदेशी मुद्रा भंडार संबंधी आंकड़े आरबीआई से लिए गए हैं <http://www.rbi.org.in/scripts/WSSView.aspx?Id=15032>
- इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड, नई दिल्ली, 2012, <http://www.indiabudget.nic.in/es2011-12/echap-03.pdf>, <http://india-budget.nic.in/ub2012-13/bag/bag3.pdf>
- <http://www.expressindia.com/latest-news/PM-warns-G20-fiscal-stimulus-is-too-small/442197/>
- ग्रोथ इज़ नॉट वर्किंग, न्यू इकॉनॉमिक्स फाउंडेशन, लंदन, 2006, http://www.neweconomics.org/sites/neweconomics.org/files/Growth_Isnt_Working_1.pdf
- http://hdrstats.undp.org/en/countries/country_fact_sheets/cty_fs_IND.html, <http://business.outlookindia.com/article.aspx?101689>
- <http://business.outlookindia.com/article.aspx?101689>
- रिपोर्ट ऑफ दि एक्सपर्ट ग्रुप टू रिव्यू दि मेथडोलॉजी फॉर एस्टीमेशन ऑफ पॉवर्टी, योजना आयोग, नई दिल्ली, 2009, <http://planning-commission.nic.in/reports/genrep/himanshu.pdf>, http://planningcommission.nic.in/reports/genrep/rep_pov.pdf
- लेखकों द्वारा आकलन, विश्व बैंक डेटा पर आधारित।
- स्टेट ऑफ फूड इन सिक्योरिटी इन दि वर्ल्ड 2008, एफएओ, रोम, <ftp://ftp.fao.org/docrep/fao/012/i0876e/i0876e.pdf>; स्टेट ऑफ एनवारयरमेंट रिपोर्ट इंडिया 2009, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार, <http://moef.nic.in/downloads/home/home-SoE-Report-2009.pdf>; आर्थिक सर्वेक्षण 2008-09, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार।
- राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2005-04, <http://www.nfhsindia.org/fact-sheet.html>, <http://www.nfhsindia.org/pdf/IN.pdf>
- माथुर, एच.एम. 2008, डेवलपमेंट एण्ड डिसप्लेसमेंट : इंट्रोडक्शन एण्ड ओवरव्यू, इंडिया सोशल डेवलपमेंट रिपोर्ट 2008 : डेवलपमेंट एण्ड डिसप्लेसमेंट, काउंसिल फॉर सोशल डेवलपमेंट, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली में।
- 49,000 स्लम्स इन इंडिया : एनएसएसओ, दि टाइम्स ऑफ इंडिया, 27 मई 2010, अंतिम दो आंकड़े माइक डेविस, प्लेनेट ऑफ स्लम्स, वर्सो, लंदन, 2007, पृष्ठ 24 से लिए गए हैं।
- इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड, नई दिल्ली, 2010, <http://indiabudget.nic.in/es2009-10/chapt2010/tab31.pdf>
- इकॉनॉमिक सर्वे, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड, नई दिल्ली, 2010, <http://indiabudget.nic.in/es2009-10/chapt2010/tab117.pdf>
- तमल बंधोपाध्याय, फाइनेंशियल इन्क्लूजन एण्ड माई ब्राइवर राजू, Livemint.com, <http://www.livemint.com/2009/08/09220615/Financial-inclusion-and-my-dri.html>, आरबीआई डेटा <http://www.thehindu.com/2007/07/02/stories/2007070255241500.htm> से लिया गया है।
- <http://www.hindu.com/2010/05/13/stories/2010051351651200.htm>
- डेलही, बेंगलूरू, मुंबई मोस्ट एफ्ल्युएण्ट सिटीज़ : नील्सन, इकॉनॉमिक टाइम्स, 3 सितंबर 2009.
- ज्वॉइंट मॉनिटरिंग प्रोग्राम फॉर वॉटर सप्लाय एण्ड सेनीटेशन, एस्टीमेट्स फॉर दि यूज़ ऑफ इम्प्रूव्ड सेनीटेशन फेसिलिटीज़, मार्च 2010, डब्ल्यूएचओ/यूनीसेफ, http://www.wssinfo.org/resources/documents.html?type=country_files, पानी संबंधी आंकड़े यूनीसेफ से लिए गए हैं, http://www.unicef.org/india/media_6116.htm
- <http://timesofindia.indiatimes.com/india/Rich-getting-richer-120k-Indians-hold-a-third-of-national-income/articleshow/6088394.cms>
- <http://nationalelectionwatch.org/>
- मानशी अशेर, रिफत मुमताज़, अमिताभ बेहर, रिजर्व फॉर सेल, <http://infochangeindia.org/200510085608/Agenda/The-Politics-Of-Water/Rivers-for-sale-The-privatisation-of-common-property-resources.html>
- इंडियाज़ इकॉलॉजिकल फुटप्रिंट : ए बिजनेस पर्सपेक्टिव, जीएफएन एवं सीआईआई, नई दिल्ली, 2008, http://www.footprintnetwork.org/es/index.php/GFN/press/indias_demand_on_nature_approaching_critical_limits_report_finds/
- ये संख्याएं आय वितरण के विषय में विश्व बैंक के डेटा को लेकर स्वयं लेखकों ने निकाली हैं। यहां अनुमान ये लगाया गया है कि हमारे बीच में संपन्न और अमीर तबके को जीडीपी का एक रुपया मिलने पर उतने ही संसाधन और कार्बन पदचिन्ह पैदा होते हैं जितना कि किसी गरीब द्वारा जीडीपी का एक रुपया अर्जित करने पर पैदा होते हैं। इस तरह, अगर देश की सबसे ऊपरी 10 फीसदी आबादी के हिस्से में देश की 30 प्रतिशत जीडीपी आती है और सबसे गरीब 10 प्रतिशत तबके के हिस्से में 3 प्रतिशत जीडीपी आता है तो ऊपरी तबके का पर्यावरणीय पदचिन्ह

- गरीबों के मुकाबले लगभग 10 गुना ज्यादा होगा। अंतर्राष्ट्रीय तुलना करते हुए – जिसमें अलग-अलग देशों में अलग-अलग जीवन लागतों को ध्यान में रखना होगा – हमने विश्व बैंक की गणनाओं में इस्तेमाल होने वाली मानक अंतर्राष्ट्रीय डॉलर पीपीपी पद्धति का प्रयोग किया है, इस तरह, 2007 में भारत में एक डॉलर से उतनी ही वस्तुएं और संसाधन प्राप्त होते थे जितना उस समय अमेरिका में 2.88 डॉलर से अर्जित किए जा सकते थे। लिहाजा, उदाहरण के लिए, अगर भारत के अमीरों की प्रति व्यक्ति आय 8000 डॉलर प्रतिवर्ष है तो उनकी संपदा व संसाधन उतने ही होंगे जितना अमेरिका में 23,000 डॉलर (23,000 ½ 2.88) कमाने वाले के पास होंगे।
28. स्टेट ऑफ एनवायर्नमेंट रिपोर्ट : इंडिया 2009, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 92.
 29. <http://timesofindia.indiatimes.com/news/environment/global-warming/India-carbon-emissions-to-triple-by-2030-Study/articleshow/4967294.cms>, <http://www.guardian.co.uk/environment/2008/jun/13/climatechange.carbone-missions>
 30. कोल रिज़र्व मे बी ओवर बाई 2040, <http://www.livemint.com/2008/09/08002208/Coal-reserves-may-be-over-by-2.html>, सेंटर फॉर स्ट्रेटेजिक एण्ड इंटरनेशनल स्टडीज़, वॉशिंगटन डीसी, 2009, http://csis.org/files/publication/sam_132.pdf
 31. इकॉनॉमिक सर्वे 2008-09, आर्थिक मामले विभाग, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली।
 32. मॉडे बालों एवं टॉनी क्लार्क, ब्ल्यू गोल्ड, लेफ्टवर्ड बुक्स, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ 24, 64, पी. साईनाथ, ब्रुई विलेज, लश वॉटर पार्क, दि हिंदू, 22 जून 2005, इंडिया बिजनेस डायरेक्टरी : अम्यूजमेंट पार्क्स, <http://www.indiastudychannel.com/business/Category11.aspx>. पर उपलब्ध। प्रति व्यक्ति उपलब्धता के आंकड़े एन. चट्टोपाध्याय (निदेशक, भारतीय मौसम विभाग, भारत सरकार), क्लाइमेट चेंज एण्ड फूड सिक्योरिटी इन इंडिया, इंटरनेशनल सिम्पोजियम ऑन क्लाइमेट चेंज एण्ड फूड सिक्योरिटी इन साउथ एशिया, ढाका, 25-30 अगस्त, 2008 से लिए गए हैं।
 33. http://www.wamis.org/agm/meetings/rsama08/S402-Chatopadhyay-Climate-change_Food-Security.pdf, स्टेट ऑफ एनवायर्नमेंट रिपोर्ट : इंडिया 2009, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 94.
 34. <http://economictimes.indiatimes.com/News/Economy/Agriculture/Monsoon-shows-signs-of-revival/articleshow/4981836.cms>
 35. वाई.सी. देवेश्वर, व्हेन इंडिया इंक. अंडरस्टैंड्स इट्स सोशल ऑब्लिगेशन, इंडिया एक्सप्रेस, 8 अक्टूबर 2005, <http://www.indian-express.com/oldStory/79648/>, फार्मिंग सेंड, डाउन टू अर्थ 14 नवंबर, 2008, <http://www.indiaenvironmentportal.org.in/node/267019>, उत्तराखंड्स ग्रोथ पुश डिस्काउंट्स लॉग टर्म कन्सर्न्स, डाउन टू अर्थ, 30 नवंबर 2006, <http://www.india-environment-portal.org.in/node/6302>, क्लेरिंग रेंडर्स लैंड बैरन, दि ट्रिब्यून, 27 सितंबर 2001, <http://www.tribuneindia.com/2001/20010927/haryana.htm#1>
 36. स्टेट ऑफ एनवायर्नमेंट रिपोर्ट : इंडिया 2009, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 55, <http://www.ias.ac.in/currensci/jul252008/216.pdf>
 37. कल्पवृक्ष के सूचना अधिकार आवेदन के जवाब में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय द्वारा भेजा गया डेटा।
 38. स्टेट ऑफ एनवायर्नमेंट रिपोर्ट : इंडिया 2009, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 73.
 39. सिक्योरिंग इंडियाज़ फ्यूचर : फाइनल टेक्नीकल रिपोर्ट ऑफ दि नैशनल बायोडाइवर्सिटी स्ट्रेटेजी एण्ड ऐक्शन प्लान प्रोसेस, टीपीसीजी एवं कल्पवृक्ष, दिल्ली, 2005; एम. बजाज, दि इम्पैक्ट ऑफ ग्लोबला-इजेशन ऑन दि फॉरेस्ट्री सेक्टर इन इंडिया विद स्पेशल रेफरेंस टू वीमेंस एम्प्लॉयमेंट, राष्ट्रीय श्रम आयोग : महिला एवं बाल श्रम समूह के लिए लिखा गया पर्चा, 2001.
 40. राहुल गोस्वामी, कोस्टल सिटीज़ नीड टू क्लीनअप देयर एक्ट, <http://infochangeindia.org/Environment/Coastal-Nightmares/Coastal-cities-need-to-clean-up-their-act.html>, एनडीटीवी, इंडियाज़ डाईंग <http://www.youtube.com/watch?v=DjU1UPC-Qifg>
 41. देखें एण्ड नोट 43.
 42. http://www.cpcb.nic.in/oldwebsite/Electronic%20Waste/Final-Ewaste-Documents/Executive_Summary.pdf, <http://www.feeds.bignewsnetwork.com/?sid=287941>, <http://www.toxiclink.org/mediapr-view.php?pressrel-num=99>
 43. वाणिज्यिक सूचना एवं सांख्यिकीय विभाग, वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय, कल्पवृक्ष के सूचना अधिकार आवेदन के जवाब में भेजी गई सूचना, फरवरी 2010; कृष्णन एन. एवं उन्नीतन एस., 2004, टिकिंग टाइम बॉम्ब्स, इंडिया टुडे ऑनलाइन, 25 अक्टूबर, <http://www.india-today.com/itoday/20041025/nation2.html>
 44. कांची कोहली एवं मंजू मेनन तथा संचरी दास एवं दिव्या बादामी, कॉलिंग दि ब्लफ, कल्पवृक्ष, नई दिल्ली 2009
 45. 'नक्सलवादफया' माओवादफ शब्द पूर्वी एवं मध्य दक्षिण भारतीय इलाकों (विशेष रूप से जनजातीय बहुल इलाकों) में सक्रिय कट्टर वामपंथी संगठनों के संदर्भ में इस्तेमाल किया जाता है। ये ऐसे समूह हैं जो बहुत सालों से भूमि अधिकार तथा अन्य मुद्दों पर सशस्त्र संघर्ष चला रहे हैं। भारत सरकार उन्हें देश की आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा मानती है हालांकि बहुत सारे स्वतंत्र विशेषज्ञ इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं।
 46. ये संख्याएं आधार रेखा के साथ समायोजित नहीं हैं; इसलिए इस अवधि में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के लिए आवंटित होने वाले बजट के रुझान को देखना ज्यादा बेहतर रहेगा।



इस प्रकाशन में दी गई सामग्री असीम श्रीवास्तव और अशीष कोठारी द्वारा लिखित किताब चर्निंग दि अर्थ : दि मेकिंग ऑफ ग्लोबल इंडिया (वाइकिंग/पेंग्विन 2010) पर आधारित है। कुछ तथ्य 2012 के मध्य के हैं। 'वैश्वीकरण, अर्थव्यवस्था, समाज व पर्यावरण' वाला भाग असीम ने तैयार किया है जबकि 'पर्यावरणीय प्रभाव' और 'विकल्पों की तलाश' भाग अशीष ने लिखे हैं।

असीम श्रीवास्तव एक पर्यावरण अर्थशास्त्री हैं जो वैश्वीकरण से जुड़े विषयों पर विस्तार से लिखते रहे हैं। **अशीष कोठारी** कल्पवृक्ष के संस्थापक-सदस्य हैं और विभिन्न पर्यावरणीय मुद्दों के शोधकर्ता व कार्यकर्ता हैं।

विपुल संगोई द्वारा शीबा देसोर की सहायता से डिजाइन किया गया।
अंग्रेजी से अनुवाद : योगेंद्र दत्त (टीडीएच की आर्थिक सहायता से)

तस्वीरें :

अशीष कोठारी, पृष्ठ 1, 2, 4, 5, 9, 12, 14-17
विपुल संगोई, पृष्ठ 7, पिछला कवर
नीरज वाघोलीकर, पृष्ठ 8
स्मितु कोठारी, पृष्ठ 11
सुनीता राव, पृष्ठ 13



पुणे:

फ्लैट नंबर 5, दूसरी मंजिल
श्री दत्त कृपा
908, डेक्कन जिमखाना
पुणे 411004, महाराष्ट्र, भारत
+91-20-25670979, 25675450
kalpavriksh@vsnl.net

वेबसाइट:

www.kalpavriksh.org

कल्पवृक्ष एक स्वयंसेवी संगठन है जो पर्यावरण शिक्षा, शोध, अभियानों और प्रत्यक्ष कार्यवाहियों पर काम कर रहा है। इसका मानना है कि कोई देश तभी सार्थक ढंग से उन्नति और तरक्की कर सकता है जब वह पर्यावरणीय टिकाऊपन और सामाजिक समता के प्रति प्रतिबद्ध हो, वह प्रकृति तथा मनुष्यों के प्रति एकबद्धता की भावना का आदर करता हो।



निजी वितरण हेतु।